वर्ष ४२] उपासना-परिशिष्टाङ्क [अङ्क २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,५०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०२४, फरवरी १९६८

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ९.०० विदेशमें १३.३५ (१५ शिलिंग) जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥ साधारण प्रति भारतमें ५० पै० विदेशमें ८० पै० (१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

भगवान् श्रीराधामाधवयुगल

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
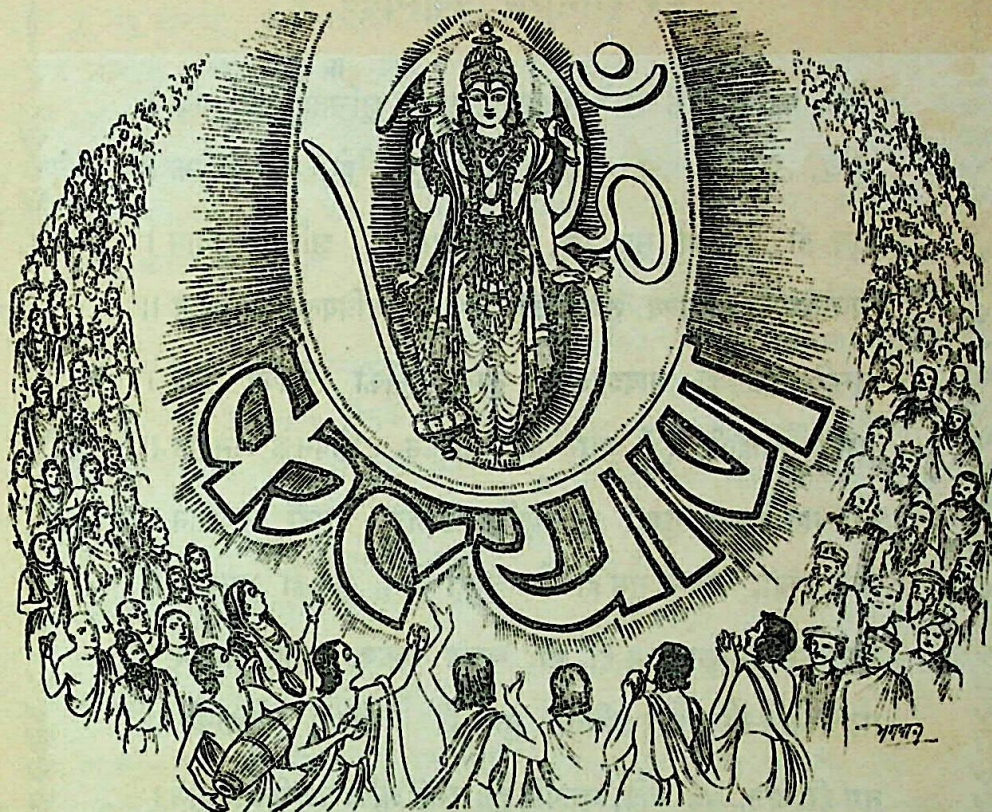
त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

वर्ष ४२ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०२४, फरवरी १९६८ { संख्या २ पूर्ण संख्या ४९५

श्रीराधा-माधव-युगलसे प्रार्थना

महाभाव रसराज स्वयं श्रीराधा-माधव युगल-स्वरूप ।
परम उपास्यदेव शुचि प्रेमीजनके नित्य नवीन अनूप ॥
मदन अनन्त मनोहर ज्ञानी योगी-जन-मन-मोहन रूप ।
सदा बसें मेरे मन मन्दिर लोक-महेश्वर सुरपति-भूप ॥

मेरे रससागर उपास्यदेव

मेरा मन, मनके सारे संकल्प तुम्हीं शुचितम हो एक।
बुद्धि, बुद्धिके पावन निश्चय सभी तुम्हीं हो, पूर्ण विवेक॥
तुम ही धर्म-कर्म सब मेरे, तुम्हीं हृदयके शुचि सुखधाम।
धन-सम्पदा अमूल्य तुम्हीं हो प्राण, प्राणप्रियतम अभिराम॥
तुम्हीं एक हो आवश्यकता, तुम्हीं पूर्तिकी उसकी चाह।
तुम्हीं चाहकी पूर्ति मधुर हो, जीवन, जीवनके निर्वाह॥
परमधाम वैकुण्ठ तुम्हीं हो, शुचि गोलोक, तुम्हीं हो ज्ञान।
मोक्ष तुम्हीं, बन्धन तुम ही हो, तुम्हीं भोग, तुम ही भगवान॥
निराकार निर्गुण तुम ही हो, सगुण अरूप, सगुण साकार।
सद्गुणनिधि-सौन्दर्य-सुधानिधि तुम ही श्रीपति विश्वाधार॥
तुम ही अज, भव, रवि, गणपति हो, तुम्हीं शक्ति बलवीर्य-निधान।
एक उपास्य तुम्हीं इन सबमें, विविध वेष-लीला-रसखान॥
सहज समेट सभी निज रूपोंको अपनेमें, बने अनूप।
सिर शिखिपिच्छ त्रिभंग द्विभुज चञ्चल-दृग मधु मुरलीधर-रूप॥
इसी रूपमें तुम उपास्य हो मेरे नित रहते हो साथ।
रखते मुझे निकट अति नित ही मधुर मनोहर मेरे नाथ!॥
रस उँडेलकर तुम अपना ही रस-सागर हो बने महान्।
मुझे मिला उसमें नित नव रस करते स्वयं कराते पान॥

कल्याण

याद रक्खो—समस्त विश्वके सम्पूर्ण प्राणी भगवत्स्वरूप हैं, यह जानकर सबको बाहरकी स्थितिके अनुसार हाथ जोड़कर प्रणाम करो या मनसे भक्ति-पूर्वक नमन करो। किसी भी प्राणीसे कभी द्वेष मत रक्खो, किसीको कटुवचन मत कहो, किसीका मन मत दुखाओ और सबके साथ आदर, प्रेम तथा विनयसे बरतो। यह भगवान्के समीप बैठनेकी एक उपासना है।

याद रक्खो—तुम्हारे पास विद्या-बुद्धि, अन्न-धन, विभूति-सम्पत्ति है—सब भगवान्की सेवाके लिये ही तुम्हें मिली है। उसके द्वारा तुम गरीब-दुखी, पीड़ित-रोगी, साधु-ब्राह्मण, विधवा-विद्यार्थी, भय-विषादसे ग्रस्त मनुष्य, पशु, पक्षी, चींटी—सबकी यथायोग्य सेवा करो—उन्हें भगवान् समझकर निरभिमान होकर उनकी वस्तु उनको सादर समर्पित करते हुए। यह भी भगवान्के समीप बैठनेकी एक उपासना है।

याद रक्खो—तुम्हें जीभ मिली है—भगवान्का दिव्य मधुर नाम-गुण-गान-कीर्तन करनेके लिये और कान मिले हैं—भगवान्का नाम-गुण-गान-कीर्तन सुननेके लिये। अतएव तुम जीभको निन्दा-स्तुति, वाद-विवाद, मिथ्या-कटु, अहितकर-व्यर्थ बातोंसे बचाकर नित्य निरन्तर भगवान्के नाम-गुण-गान-कीर्तनमें लगाये रक्खो और कानोंके द्वारा बड़ी समुत्कण्ठाके साथ उल्लासपूर्वक सदा-सर्वदा भगवान्के नाम-गुण-गान-कीर्तनको सुनते रहो। यह भी भगवान्के समीप बैठनेकी एक उपासना है।

याद रक्खो—तुम्हें मन मिला है सारी वासना-कामनाओंके जालसे मुक्त होकर समस्त जागतिक स्फुरणाओंको समाप्तकर भगवान्के रूप-गुण-तत्त्वका मनन करनेके लिये और बुद्धि मिली है—निश्चयात्मिका होकर निरन्तर भगवान्में लगी रहनेके लिये। यही मन-बुद्धिका समर्पण है। भगवान् यही चाहते हैं। इसलिये मनके द्वारा निरन्तर अनन्य चित्तसे भगवान्का चिन्तन करो और बुद्धिको एकनिष्ठ अव्यभिचारिणी बनाकर निरन्तर भगवान्में लगाये रक्खो। यह भी भगवान्के समीप बैठनेकी एक उपासना है।

याद रक्खो—तुम्हें शरीर मिला है भगवद्भावसे गुरुजनोंकी, रोगियोंकी, असमर्थोंकी आदरपूर्वक सेवा-टहल करनेके लिये, देवता-द्विज-गुरु-प्राज्ञके पूजनके लिये, पीड़ितकी रक्षाके लिये और सबको सुख पहुँचानेके लिये। अतएव शरीरको संयमित रखते हुए शरीरके द्वारा यथायोग्य सबकी सेवा-चाकरी-रक्षा आदिका कार्य सम्पन्न करते रहो। यह भी भगवान्के समीप बैठनेकी एक उपासना है।

याद रक्खो—तुम्हें मनुष्य-जीवन मिला है, केवल श्रीभगवान्का तत्त्वज्ञान, भगवान्के दर्शन या भगवान्के दुर्लभ प्रेमकी प्राप्तिके लिये। यही मानव-जीवनका परम साध्य है और इसी साध्यकी प्राप्तिके लिये सतत सावधान रहते हुए यथायोग्य पूर्ण प्रयत्न करते रहना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है। इस कर्तव्यपालनमें सावधानीसे लगे रहना ही वास्तविक उपासना है। इसके विपरीत भोगों—सुखकी मिथ्या आशा—आस्था-आकांक्षाको लेकर जो प्रयत्न करना है, वह तो प्रमाद है और आत्महत्याके समान है। अतएव भोग-सुखकी मिथ्या आशा-आकांक्षाका सर्वथा त्याग करके मानव-जीवनको सदा-सर्वदा सब प्रकारसे भगवत्प्राप्तिके साधनमें, अपनी स्थिति और रुचिके अनुसार ज्ञान-कर्म-उपासनारूप किसी भी उपासनामें लगाये रक्खो। यही मानव-जीवनका सदुपयोग है और इसीमें मानव-जीवनकी सफलता है। यही भगवान्के समीप बैठना है और यही यथार्थ उपासना है।

'शिव'

उपासनामें भक्ति

(लेखक—आचार्य श्रीशुकरत्नजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य शिक्षाशास्त्री)

[उपासना-अङ्क पृष्ठ २५८ से आगे]

श्रीमद्भागवतमें भी सत्पुरुषोंके सङ्गसे प्रभु-कथाद्वारा क्रमशः श्रद्धा, रति और भक्तिका अनुक्रमण बताया है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २५ । २५)

'श्रद्धया सत्यमाप्यते', 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।'

इस प्रकार श्रद्धाका महत्त्व सर्वत्र स्वीकार किया गया है। गोस्वामी तुलसीदासने ज्ञान-दीपकसे प्रकाशकी प्राप्तिमें सात्विक श्रद्धारूपी धेनुके महत्त्व और आधारको सर्वप्रथम स्वीकार किया है। इस प्रेम-मार्गमें तो असंदिग्ध और अनिवार्यरूपसे श्रद्धाकी स्वीकृति सर्वथा काम्य है; क्योंकि उसके बिना अनपायिनी, निरवच्छिन्न और अनन्य-निष्ठा-युक्त रतिका उद्भव कैसे सम्भव है ?

श्रीरूपगोस्वामीने मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे क्रमशः एकके बाद एककी स्थितिका निर्देश किया है। उन्होंने गुरुपदाश्रय आदि भक्तिके ६४ अङ्गोंका भी वर्णन किया है[1] जिनका विस्तार-भयसे यहाँ उल्लेख सम्भव नहीं है। ये सभी अङ्ग भक्तिकी रक्षा करने, अन्तराय-समूहको दूर करने तथा भक्तिके समुन्मेषमें साधक हैं। श्रीमद्भागवतमें वर्णित नवधा-भक्ति—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
(७ । ५ । २३)

और रामचरित-मानसमें कथित 'प्रथम भगति संतन कर संगा ।' (अरण्य० ३४।८) आदि नवधा-भक्ति इन्हीं ६४ अङ्गोंका सार है। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें भी भगवान् श्रीकृष्ण-उद्धवके प्रति भक्ति-प्राप्तिके उपायोंको बताया है—'अमृत-तुल्य मेरी कथामें श्रद्धा, बार-बार मेरा कीर्तन, मेरी पूजामें आस्था, स्तुतियोंद्वारा मेरा स्तवन, मेरी सेवामें आदर, समस्त अङ्गोंद्वारा मेरा अभिवादन, मेरे भक्तोंका सम्मान, सब प्राणियोंको मेरा ही स्वरूप समझना, देहकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ मेरे लिये ही करना, वाणीसे सर्वदा मेरे गुणोंका वर्णन, मनको मुझमें अर्पण कर देना, समस्त कामनाओंका परित्याग, मेरे लिये समस्त धन-भोग और सुखका त्याग तथा मेरे लिये किये हुए यज्ञ, दान, होम, जप, व्रत, तपस्या—इस प्रकारके धर्मोंसे आत्मनिवेदन करनेवाले मनुष्योंकी मुझमें भक्ति होती है। फिर ऐसे भक्तके लिये कौन-सा अभीष्ट अर्थ शेष रह जाता है। (भा० ११ । १९ । १९–२४) आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने भक्तिकी भूमिकाओं-को इस प्रकार बताया है—

प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः ।
श्रद्धाथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः ॥
ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतिस्ततः ।
प्रेमवृद्धिः परानन्दे तस्याथ स्फुरणं ततः ॥
भगवद्धर्मनिष्ठातः स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता ।
प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिका ॥
(भक्ति-रसा० १ । ३२–३४)

उन्होंने स्वयं ही इन भक्तिकी भूमिकाओंपर श्रीमद्-भागवतके प्रथम स्कन्धका प्रभाव स्वीकार किया है। रामावत-सम्प्रदायमें भक्तिके जनक सात उपाय स्वीकार किये हैं—१. विवेक (दुष्ट-आहारसे सात्त्विक-आहारका विवेचन), २. विमोक (काममें अनासक्ति), ३. अभ्यास (प्रभु रामचन्द्रका संतत शीलन), ४. क्रिया (पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान), ५. कल्याण (सत्य, आर्जव, दान, दया आदि), ६. अनवसाद (उत्साह-सम्पन्नता) और ७. अनुद्धर्ष (सांसारिक अभिलाषाओंकी पूर्तिमें हर्षका अभाव)। प्रायः सभी वैष्णव आचार्योंने इन विविध साधनोंसे अथवा साधन-भक्तिसे भाव-भक्तिका उदय माना है; किंतु भाव-भक्ति या प्रेम-लक्षणा भक्तिकी प्राप्तिमें इन साधनोंकी अपेक्षा भगवत्कृपाको अधिक समर्थ कारण स्वीकार किया है। आचार्य वल्लभने भक्तिके (१) मर्यादा-भक्ति और (२) पुष्टि-भक्ति भेद

---

१. द्रष्टव्य—हरिभक्ति-रसामृतसिन्धु, पूर्वविभाग २। ७४–४२।

करते हुए, चरम प्रास्तव्य पुष्टि-भक्तिको एकमात्र भगवान्‌के अनुग्रहसे ही साध्य माना है—

'पोषणं तदनुग्रहः' (भा० २ । १० । ४)

कठोपनिषद्‌में यह प्रभु-कृपाका सिद्धान्त स्पष्टरूपसे निर्दिष्ट है—

'तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ।'
(कठ० १ । २ । २०)

अर्थात् 'यह निष्काम-पुरुष जगत्कर्ताके प्रसादसे अपने आत्माकी महिमा देखता है और शोकरहित हो जाता है ।' इसीलिये वैष्णव-मतमें भक्तिकी अपेक्षा प्रपत्तिका असाधारण गौरव वर्णित है, जिसमें भगवान् ही उपाय तथा वही उपेय भी हैं । उनके 'प्रसाद' से ही जीव इस सांसारिक क्लेश-जाल अथवा दुःख-भयसे मुक्ति पा सकता है । रामानुज-सम्प्रदायमें इसीको स्पष्ट करनेके लिये 'कपि-किशोर' और 'मार्जार-किशोर' का दृष्टान्त दिया गया है । 'मार्जार-किशोर' निष्क्रिय होकर स्वयंको माताके आश्रयमें छोड़ देता है । माता ही उसके संरक्षण और योग-क्षेमका विधान करती है । और 'कपि-किशोर' अपनी सुरक्षाके लिये माताको जोरसे पकड़े रहता है, तभी उसकी रक्षा होती है । यहाँ 'मार्जार-किशोर' का दृष्टान्त, उपास्यको ही उपाय तथा उपेयके रूपमें स्वीकार करनेका संकेत है । श्रीरूपगोस्वामीने भाव-भक्तिकी प्राप्तिमें श्रीकृष्ण तथा उनके भक्तोंके प्रसादको अतिविरल बताया है—

साधनाभिनिवेशेन कृष्णतद्भक्तयोस्तथा ।
प्रसादेनातिधन्यानां भावो द्वेधाभिजायते ॥
आद्यस्तु प्रायिकस्तत्र द्वितीयो विरलोदयः ।
(हरिभक्तिरसामृत० पूर्व० ३ । ४-५)

यह भाव साधनोंके अनुष्ठानके बिना ही सहसा उत्पन्न हो जाता है—

साधनेन विना यस्तु सहसैवाभिजायते ।
स भावः कृष्णतद्भक्तप्रसादज इतीर्यते ॥
(ह० भ० र०, पूर्व० ३ । ९-१०)

यहाँ यह स्मरणीय है कि सामान्यतया भाव, रति, प्रेम, स्नेह आदि शब्दोंको समानार्थक माना जाता है । किंतु यहाँ ग्रन्थकारने प्रेम उत्पन्न होनेकी प्रथमावस्थाको 'भाव' माना है । दोनोंमें कारण-कार्य भाव हैं । इसीलिये प्रेमको सूर्य और भावको उसका अंश-मात्र माना है—

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक् ।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ॥
(ह० भ० र०, पूर्व० ३ । १)

'भाव'के मनमें उत्पन्न हो जानेपर, साधकके जीवनमें निम्नलिखित अनुभाव प्रकट हो जाते हैं—

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता ॥
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः ।
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले ॥
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने ।
(ह० भ० र०, पू० ३ । १२-१४)

'भाव' के अनन्तर 'प्रेम' उत्पन्न होता है । यद्यपि दोनों ही साध्यभूत हैं, किंतु श्रीरूपगोस्वामीने उनमें मात्राकृत भेद माना है । भाव-भक्ति प्रारम्भिक श्रेणी है, प्रेम उससे ऊँची अवस्था है । प्रगाढ़ प्रबल 'भाव' का नाम ही 'प्रेम' हो जाता है—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः ।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥
(वही ४ । १)

अर्थात् "जो अन्तःकरणको अत्यन्त द्रवीभूत करा देनेवाला और अतिशय ममता-सम्पन्न है, वह 'भाव' ही गाढ़ताको प्राप्त होकर 'प्रेम' नामसे कीर्तित होता है ।" श्रीनारदजीने इसके स्वरूपको अनिर्वचनीय कहा है—'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्' । इसकी कोई निश्चित परिभाषा बता देना भी कठिन है—

उलटा पलटी करहु निखिल जगकी सब भाषा ।
पै नहिं मिलहि एक प्रेम पूरी परिभाषा ॥

ध्वंसके कारण उपस्थित होनेपर भी यह कभी ध्वस्त नहीं होता । प्रेमोदय होनेपर श्रीकृष्णमें अत्यन्त ममता-बुद्धि हो जाती है । साधकोंके अनुसार 'कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा'का नाम ही 'प्रेम' है । इसे ह्लादिनी, संविदंश-प्रधान, शुद्ध-सत्त्वकी वृत्ति-विशेष माना जाता है । श्रीगौराङ्ग महाप्रभुका कथन है कि—

नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम साध्य कभू नय ।
श्रवणादि-शुद्धचित्ते करये उदय ॥
(चै० च० २ । २२ । ५७)

अर्थात् 'श्रीकृष्ण-प्रेम नित्य-सिद्ध है । वह साधनादिके

द्वारा उत्पन्न होनेवाला (जन्य-पदार्थ) नहीं है। श्रवण-कीर्तनादि साधन-भक्तिके अनुष्ठानके फलसे निर्मल-चित्तमें करुणासागर प्रभु श्रीकृष्णकी कृपासे प्रेमका उदय होता है। जिसे पाकर समस्त संसार कृतकृत्य हो जाता है।' और 'साधक जिसे प्राप्त कर उन्मत्तके सदृश कभी बार-बार रोने लगता है, तो कभी हँसने लगता है और कभी लज्जा छोड़कर उच्च-स्वरसे गाने लगता है, तो कभी नृत्य करता हुआ समस्त त्रिभुवनको पवित्र बना देता है—

> वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
> रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
> विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
> मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
> (श्रीमद्भागवत ११। १४। २४)

'भक्तिका स्वरूप भी तो परम-प्रेममय ही है।'—

> 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।'
> (ना० भ० २)

यह प्रेम जितनी ही गाढ़ता प्राप्त करता है, श्रीकृष्णके प्रति उतनी ही मात्रामें ममता-बुद्धि बढ़ती जाती है और उस अवस्थामें श्रीकृष्ण-मिलनके लिये चित्त अत्यन्त व्याकुल रहने लगता है। सांसारिक आकर्षण और प्रलोभनोंके प्रति अपने आप ही रागका अभाव हो जाता है; क्योंकि चित्तमें फिर दूसरे पदार्थोंके प्रति राग-द्वेषके लिये स्थान ही नहीं रहता। दुर्जर गेह-शृङ्खला स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाती है। स्वजन-आर्यपथादि (या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं हित्वा।) एवं सर्व-विध सम्बन्धोंकी अपेक्षा तक तिरोहित हो जाती है। नारदजीने प्रेमके स्वरूपका इस प्रकार वर्णन किया है—

> गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ (नारद भक्तिसूत्र ५४)

सहज प्रेममें गुणोंकी भी शर्त नहीं होती; क्योंकि गुणोंके आधारपर किया गया प्रेम गुणोंकी कमी या अवगुण दीखनेपर नष्ट हो सकता है। अतः प्रेम 'गुणातीत' है। अपने प्रियतमको सुख पहुँचानेका अनन्य भाव ही 'प्रेम' है—'तत्सुखे सुखित्वम्।' इसलिये इसमें प्रियतमसे स्वसुख-वासनारूपी स्वार्थपूर्ण क्षुद्र-वासनाका सर्वथा अभाव रहता है। यह पूर्णिमारहित चन्द्रकलाकी तरह या गङ्गाके प्रतिक्षण वर्धमान अखण्ड-प्रवाहके सदृश बढ़ता ही जाता है। यह कभी पूरा न होनेवाला खजाना है, यह अपने-आपमें ही नित्य अनन्त परिपूर्ण अथच नित्य अपूर्ण आश्चर्यमय रससमुद्र हैं। यह कभी किसी भी निमित्तसे या बिना निमित्तके स्वभावसे टूटनेवाली वस्तु नहीं है। प्रेम इतना सूक्ष्म है कि वह प्रेमीके रेशे-रेशेमें व्याप्त हो जाता है। उसका एक-एक विचार, एक-एक कर्म तथा एक-एक स्थिति शयन, जागरण आदि सभी प्रेमसे भर जाते हैं। उसकी कोई बाहरी पहचान नहीं है। कभी-कभी तो प्रेमके उच्चतम भावको प्रियतम भी नहीं समझ पाता। प्रेम समझसे बहुत ऊपर है। वह स्वयं अनुभव है, अनुभवका विषय नहीं है। यह प्रेम ही जीवका एकमात्र पुरुषार्थ या मुख्य अभीष्ट है। प्रेम ही क्रमशः घनीभूत होते-होते स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव नामोंको प्राप्त होता है। यह उसी प्रकार है—जैसे इक्षु-रस ही क्रमशः परिष्कृत होते-होते मिश्री बन जाता है, वैसे ही चेतोद्रवातिशयात्मक स्नेह ही इन अवस्थाओंको पार करता हुआ घनीभूत, प्रबुद्ध तथा परिपक्व होनेपर 'महाभाव'में परिणत हो जाता है। महाभाव कहनेका आशय यह है कि सांसारिकरति तो भावरूपा ही होती है, किंतु श्रीकृष्ण-विषया रति महान् भाव बननेकी अधिकारिणी है। इस लघु लेखमें स्नेहसे महाभावतक अलग-अलग व्याख्या करनी शक्य नहीं है। महाभावके भी दो स्तर हैं—मोदन और मादन। श्रीकृष्ण-मिलनसे होनेवाली समस्त वैचित्रीका आधार 'मादनाख्य-महाभाव' है। यह मादनाख्य महाभाव, आह्लादिनी-शक्ति कान्ता-शिरोमणि राधाको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी अभिव्यक्त नहीं है; यहाँ तक कि लीलामें स्वयं श्रीकृष्णमें भी इसकी अभिव्यक्ति नहीं है।*

जीवके यथावस्थित देहमें, साधन-मार्गमें वह चाहे कितना ही उन्नत क्यों न हो, प्रेमतक ही आविर्भाव हो सकता है। स्नेह, मान, प्रणय आदिका आविर्भाव यथावस्थित देहमें सम्भव नहीं है। साधक-शरीरमें भक्ति-प्रादुर्भावकी इयत्ता यहीं तक है, जिसको 'जात-रति' कहते हैं। जात-रतिका तात्पर्य भगवत्-परिकरमें प्रवेश होनेकी योग्यता है। भावकी परिपक्व अवस्थामें अर्थात् रति उत्पन्नवाली सिद्धदशामें परम उत्कण्ठित साधक जब शरीरपात कर लेता है, उस समय

* इस सम्बन्धमें विशेष जानकारीके लिये हिंदीके पाठकोंको गीताप्रेससे प्रकाशित 'राधा-माधव-चिन्तन' नामक ग्रन्थका अवलोकन-अध्ययन करना चाहिये।—सम्पादक

लीला-शक्ति योगमाया तत्तद्भावोचित शरीर प्रदानकर उसका नित्यपरिकरोंमें प्रवेश करा देती है। नित्य-परिकर व्रज-गोपियोंके सामने साधक-भक्तोंकी रति-वृत्ति स्वल्पांशमें ही मानी जाती है; क्योंकि वह रतिरूप स्थायिभाव नित्य-परिकर व्रजगोपियोंमें समुद्ररूपमें विराजमान है। इसी प्रकार श्रीरूपगोस्वामीने मधुरा-रतिके प्रसङ्गको लेकर मनोवैज्ञानिक दृष्टि तथा प्रेम-वैचित्र्यके आधारपर रतिके जो विविध अभिधानोंसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम भेद किये हैं, उनकी भी अपनी-अपनी सीमा है। 'साधारण'-रतिकी प्रेम-पर्यन्त सीमा है, 'समञ्जसा'की अनुराग-पर्यन्त सीमा है, व्रजदेवियोंकी भाव-महाभावपर्यन्त सीमा-स्थिति है और वहाँ भी 'मादनाख्य-महाभाव' एकमात्र श्रीराधिकामें विराजमान है, अन्य किसी कृष्णकान्तामें नहीं। इस प्रसङ्गमें ही यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि मधुमङ्गल, नन्द-यशोदा एवं श्रीराधादि व्रज-परिकर जिस-जिस रीतिसे श्रीकृष्ण-सेवा करते हैं, ठीक उसी रीतिसे श्रीकृष्ण-सेवा करना जीवका अधिकार नहीं है। श्रीनन्द-यशोदादि तो श्रीकृष्णकी स्वरूप-शक्ति हैं। स्वातन्त्र्य-मयी सेवामें उनका अधिकार है। उनकी सेवाको 'रागात्मिका' कहते हैं। किंतु जीव स्वरूप-शक्ति नहीं है। जीव स्वरूपतः श्रीकृष्णदास है, आनुगत्यमयी सेवामें ही दासका अधिकार होता है। अतः रागात्मिका-भक्तिका आनुगत्य लेकर, उनकी रागात्मिका-सेवाके अनुकूल-विधान-रूप सेवामें ही जीवका अधिकार है। इसीसे इसे 'रागानुगा-भक्ति' कहते हैं। यही 'रागानुगा' और 'रागात्मिका' भक्तिमें भेद है।

आचार्योंने भक्ति-सम्बन्धी भावनाओंको वर्गीकरणके वृत्तमें बाँधनेका प्रयत्न किया है। पर भावनाएँ अनन्त हैं, उन्हें बन्धनोंमें नहीं बाँधा जा सकता। परमेश्वरके साथ जीवके विविध सम्बन्ध हो सकते हैं; क्योंकि जीवका एकमात्र विश्राम-स्थान और आश्रय परमात्मा ही तो है—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
(गीता ९। १८)

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्॥
(श्रीमद्भागवत ३। २५। ३८)

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
(श्रीमद्भागवत १०। २९। १५)

इस प्रकार गीता-भागवतादि अनेक ग्रन्थोंमें परमेश्वरके साथ भिन्न-भिन्न प्रकारके सम्बन्धोंका सङ्केत किया है। साधक और आचार्योंने भावना तथा मनोविज्ञानके आधारपर उनका विवेचन किया है। उनमेंसे 'पाँच प्रकार ही (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य) सम्मान्य आचार्योंद्वारा विशेषरूपसे स्वीकृत और विवेचित हैं। इनमें उत्तर-उत्तरवाले-की अपेक्षा पूर्व-पूर्वके भक्ति-रसको कनिष्ठ बताया है'—

मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः।
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः॥
(हरिभक्तिरसामृत० दक्षिण० ५। ९६)

भक्ति-जगत्‌में रसके आरोहण-क्रममें 'शान्त' सबसे नीचे है और 'मधुर' सबसे ऊपर। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे इसका कारण स्पष्ट है। शान्त-रसमें एक बड़ा दोष यह है कि वह भगवान्‌के साथ किसी वैयक्तिक सम्बन्धपर आश्रित नहीं होता। दास्य-भावका सबसे बड़ा प्रतिबन्ध यह है कि प्रभुके सामने दास-भक्त मर्यादाके द्वारा विजृम्भित तथा नियन्त्रित रहता है, जिससे वह अपना हृदय खोलकर दिखानेमें समर्थ नहीं होता; यह त्रुटि सख्य-भावमें नहीं होती। सख्य-भावमें गौरवके द्वारा उत्पन्न व्यग्रताके स्थानपर विश्रम्भ विराजने लगता है। श्रुतिमें भी परमात्मा और जीवके सख्यका सुस्पष्ट निर्देश है। वात्सल्य-रसमें विभूति और ऐश्वर्यका ज्ञान नहीं रहता। यहाँ न तो सम्भ्रमके लिये स्थान रहता है (दास्य-रतिके समान) और न विश्रम्भके लिये स्थान रहता है (सख्य-रतिके समान)। इसमें इन दोनोंसे ऊपर उठकर अनुकम्पा-पात्रके लिये स्वाभाविक रति होती है। नन्द तथा यशोदाकी श्रीकृष्णके प्रति जो ममत्व-भावना है, वही वात्सल्यका प्राण है। अतः वात्सल्य, पूर्ववर्णित रसोंकी अपेक्षा उत्कर्षमें कहीं अधिक होता है। श्रीकृष्णकी कान्त-भावसे उपासना करनेको 'माधुर्य-रस'के नामसे अभिहित किया जाता है। यह भक्तिकी अन्तिम उदात्ततम दशा मानी जाती है; क्योंकि यहाँ भगवान्‌के साथ किसी प्रकारके मर्यादा-निर्वाहकी बात नहीं उठती, न किसी तरहके संकोचका ही अवसर आता है। यह रागानुगा-भक्तिका चरम उत्कर्ष है। लौकिक दाम्पत्यसे यह सर्वथा भिन्न होता है। दोनोंमें

आकाश-पातालका अन्तर है। भगवच्चिन्तनमें निरत साधकके द्रुत-चित्तपर भगवदवच्छिन्न चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है। वही है—यह प्रेम। परंतु जब नायिकावच्छिन्न चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है उस द्रुत-चित्तमें, तब यह भावना 'काम'के नामसे अभिहित की जाती है। इस प्रकार 'काम' दुःख तथा पापरूप है और 'प्रेम' सुख तथा पुण्यरूप है। काम विष है, प्रेम अमृत है। वेदोंसे लेकर योग-ग्रन्थोंतक इस मधुर-भक्तिके सङ्केत प्राप्त होते हैं—'परि ष्वजन्ते जनयो तथा पतिम्' (ऋ० १०।४३।१) 'पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तम्' (ऋ० १।६२।११) अर्थात् ये बुद्धियाँ आपका ठीक उसी प्रकारसे आलिङ्गन करना चाहती हैं, जैसे कामना-युक्त पत्नी काम-युक्त पतिका संयोग करती है। "सुश्रृङ्गाररसेनैव विहरेत् परमात्मनि।' (घेरण्डसंहिता)। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह मधुर-भक्ति समर्पणका चरम-उत्कर्ष होनेसे वेदोपनिषद् तथा वैष्णव आचार्योंद्वारा शतशः समादृत और चर्चित है। इसीलिये रसज्ञ भक्तोंने इसे 'परम दुष्कर' बताया है; क्योंकि इसमें निरन्तर जो अनन्त रस-समुद्र उमड़ता रहता है, उसमें कृत्रिमता, संकोच, तर्क-कर्कशता आदि स्वभावतः डूब जाते हैं और एक अकृत्रिम अमृत-रसका अनन्त अतृप्ति-पूर्ण स्वाद सदैव बना रहता है। मघा-नक्षत्रके मेघ-वर्षणकी तरह व्यक्तिका रेशा-रेशा इस रससे भींग उठता है; किंतु इस स्थितिपर पहुँचना कोई सरल काम नहीं है। इसमें नदीके उमड़ते प्रवाहकी तरह, इन्द्रियोंकी स्वाभाविक आकाङ्क्षाओंको बढ़ाते हुए ही अपने लक्ष्यकी ओर सतत बढ़ते रहनेकी साधना करनी पड़ती है—

आर्द्रायन्ते यया नित्यं मनःप्राणाश्च सर्वतः।
सुप्रिया मधुरा भक्तिः सा केनेह न काम्यते॥

इस प्रकार भक्तिके क्रममें 'पूर्ण समर्पण' अथवा 'आत्म-निवेदन' ही प्रभु-उपासनाकी सबसे अन्तिम और उत्कृष्टतम प्रक्रिया है। चाहते-चाहते अपने प्रियको अपना सर्वस्व समर्पित कर देना ही प्रेम-जगत्‌का सार है। इससे बढ़कर अपने प्रियतमके प्रति अखण्ड, अनन्य-निष्ठाकी अभिव्यक्तिका अन्य कोई प्रशस्ततर साधन नहीं है। तदीयता, तन्मयता और अपनेपनको सर्वथा मिटा देना, यही है 'आत्म-निवेदन'— अपने प्रियतमके 'दरपर सज़दा करते-करते खुदीको खो देना' ही तो प्रेमी चाहता है। प्रियको छोड़कर उसका अपना कुछ भी नहीं बचता। इससे अधिक और प्रेमीके पास है भी क्या; क्योंकि संसारके अन्य पदार्थ अपनेपनके कारण ही तो सारवान् हैं। जब अपनापन ही मिट गया, तो बचा ही क्या ? एक बात और—जीव न तो स्त्री है, न पुरुष, न नपुंसक। जो-जो शरीर धारण करता है, वह शरीर धर्मानुसार उसका अभिमानी होता है; और इसी प्रकार परमात्मा भी न स्त्री है, न पुरुष, न कुमार, न कुमारी। विश्वका सब कुछ वही है, अतएव भक्त और भगवान्‌के बीच कोई भी और सभी प्रकारका सम्बन्ध सम्भव है।

यह भक्ति-सुख जिस भाग्यवान्‌को मिल जाय, वह हजारों मुक्तियोंको भी इसपर निछावर कर देता है। भावुक भक्तोंने तो 'परार्द्धगुणीकृत ब्रह्मानन्दको भी भक्ति-सुख-समुद्रके परमाणुके बराबर भी नहीं माना'—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥

इस प्रेम-लक्षणा भक्तिका मानवीय मनोविज्ञानके धरातल-पर विवेचन हुआ है, इसलिये वह शाश्वत तथा सार्वभौम है। ज्ञान, योग और कर्मके क्षेत्र भी श्रद्धा-निर्भर होनेके कारण भक्ति-विरहित नहीं। आस्था, श्रद्धा तथा व्यवहार—ये भक्तिके ही पूर्वरूप हैं। इस प्रकार कोई भी भारतीय साधना भक्ति-तत्त्वसे रिक्त नहीं। भक्ति-भावसे विरहित ये उच्च निष्ठाएँ हमें उस आनन्द-चर्वणासे वञ्चित रख सकती हैं जो मानवीय-मनको सतत रसाप्लुत बनाये रखना चाहती हैं। इन निष्ठाओंमें भक्ति-रसका समावेश कर देनेपर, इसी जीवनमें हम उस शान्त आनन्दके अधिकारी बन जाते हैं, जिसकी कि भक्ति-शून्य ज्ञान-कर्मवादी मृत्युके पश्चात् कामना किया करते हैं। भक्ति-रससे तल्लीन मनवाले व्यक्तिके निकट ज्ञान, भक्ति और कर्मके तार्किक-भेदका आकलन ही नहीं हो सकता। वे सभी रस-सिक्त होकर उसीमें समा जाते हैं। भक्तकी समस्त अभिलाषाएँ, भावनाएँ और धारणाएँ उसी एक सत्तामें केन्द्रित हो जाती हैं। यह भक्ति-भावना संसार-संतप्त आत्माकी एकमात्र विश्राम-भूमि है, जहाँ भुक्ति-मुक्ति भी पिशाचीकी तरह दूरसे ही वर्जनीय हो जाती हैं। परमात्माका आनन्दांश ही तो प्रेम है; अतः इस विश्वमें आकर जिसने प्रेम (भक्ति) का आस्वाद नहीं लिया, वह सूने घरमें आये हुए अतिथिके समान है, जो आकर ज्यों-का-त्यों लौट जाता है। भक्त सामाजिक जीवनसे भी दूर नहीं रहता। वह अकेला ही कल्याणी-सृष्टिका यात्री नहीं बनना चाहता; अपने साथ समग्र समाजको रसाप्लावित

करता हुआ आगे ले जानेका प्रयत्न करता है। जब कि सांसारिक सुखभोग, देश-सेवा, स्वाराज्य-प्राप्ति, परोपकार, विश्वबन्धुत्व, वर्गहीन-समाज, राम-राज्य—इनतक हमारा आदर्श समाप्त हो जाता है। भक्तका आदर्श कहीं उच्चतर है। वह देश, भूमण्डल और सारे विश्वको प्रभुतक पहुँचाना चाहता है। अपनेको भगवान्-जैसे अखिल-विश्वके अधिपतिके अर्पण करनेकी भावनामें समाज, मनुष्य-जाति एवं सारे विश्वके प्रति समर्पणभाव अपने-आप आ जाता है। भक्त केवल कुटुम्ब, जाति, देश, समाज और मानव-मात्रमें ही नहीं, जीव-मात्रमें ही नहीं, प्रत्युत जड-चेतन सृष्टि-मात्रमें अपनेको विलीन कर देता है। स्वार्थत्याग या आत्मत्यागकी यह पराकाष्ठा है। उसकी व्यक्तिगत साधना इस प्रकार चुपचाप समष्टिगत हो जाती है। भक्त होनेका अर्थ समाज और मानव-जातिको भूल जाना नहीं है, बल्कि बड़े लक्ष्यकी सिद्धिके लिये कुछ कालतक उसे गौण समझना है। जब भक्त भगवान्के निकट पहुँच जाता है, उसकी भावना विशाल और व्यापक बन जाती है; तब उसमें समाज एवं मानव-जातिके कल्याणकी अनन्तगुनी शक्ति सहज आ जाती है। वह उसकी सेवा या उद्धार-सुधार करनेका वास्तविक अधिकारी हो जाता है। पर यह सब उसमें सहज स्वाभाविक होता है, वह इसका तनिक भी अभिमान नहीं करता। वह कभी अपनेको देशसेवक या मानवसेवक नहीं मानता। जैसे सूर्यसे स्वाभाविक ही सबको प्रकाश मिलता है, वैसे ही उस भक्तके द्वारा विश्व-प्राणीका कल्याण-साधन होता है। भक्ति वह अलौकिक कस्तूरी है, जिसकी सुगन्ध चारों ओर भरी हुई है। जीवनका कोई भी क्षेत्र इससे दूर नहीं है। यही वह वृत्ति है जो मनुष्य एवं समाजको अपने लक्ष्यतक पहुँचाती है; सुख, आनन्द और परा-शान्ति प्रदान करती है; कर्म, ज्ञान, योग आदि विभिन्न धारणाओंमें प्रिय समन्वय स्थापित करती और हमारे व्यक्तिगत, राष्ट्रिय तथा विश्व-जीवनको पवित्र और सरस बनाती है, जिसके कारण अद्वैत समुद्रमें भी कल्पित भाव-द्वैत-लहरी उठ पड़ती है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः॥

इस प्रकार जीव-मात्रके लिये भक्तिके माध्यमसे परमेश्वरका स्मरण ही नित्य-नवीन, शोक-समुद्रका शोषक और लोकोत्तर परानन्दका उद्गमस्थान है—

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥
(श्रीमद्भागवत १२। १२। ४९)

प्रभु-उपासनामय जीवन हो

सर्वसमर्थ, सर्वके प्रेरक, सर्वशक्ति-निधि, सर्वाधार।
सर्वलोकपरमेश्वर, सर्वज्ञाता, सबके सुहृद उदार॥
ऐसे प्रभु करुणासागर, हैं रहते सदा तुम्हारे साथ।
योगक्षेम वहन करते, सिरपर रख अभय-वरद निज हाथ॥
देखो, अनुभव करो, सदा समझो अपनेको पूर्ण सनाथ।
सहज सुहृद प्रभुके कृतज्ञ हो गाते रहो नित्य गुण-गाथ॥
करो सदा तन-मन-वाणीसे प्रभु-अनुकूल सभी व्यवहार।
प्रभु-पूजा-प्रीत्यर्थ समर्पित रहें सभी आचार-विचार॥
एकमात्र प्रभु ही पल-पलमें पद-पदपर हों शुचि आराध्य।
प्रभु-उपासनामय जीवन हो, प्रभु ही हों सब साधन-साध्य॥

विभूति (भगवद्विभूति) का रहस्य

(लेखक—पं० श्रीबाबूरामजी द्विवेदी, एम्० ए०, बी० एड्०, साहित्यरत्न)

'भगवत्' शब्दका व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ है—भग+मतुप् (वत्व)—ऐश्वर्ययुक्त, सम्माननीय। विष्णुपुराणके अनुसार सृष्टिकी उत्पत्ति, प्रलय, आगमन (जीवात्माके पुनर्जन्म), गमन (जीवके प्रयाण), विद्या एवं अविद्याका पूर्ण ज्ञाता ही 'भगवान्' पदवाच्य है[1]। निरवधि आनन्दसे विभूषित भगवान्का स्वरूप 'षाड्गुण्य-विग्रह' कहलाता है[2]। ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य-शक्ति और तेजसे परिपूर्ण भगवान्की दिव्य देहको 'षाड्गुण्य-विग्रह' कहते हैं[3]। शुद्धाद्वैत-दर्शनके अनुसार ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री (भग) से युक्त पुरुष-विशेषको 'भगवान्' कहते हैं[4]।

'पातञ्जल-योगदर्शन'के अनुसार क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश), कर्म (पुण्य-पाप, पुण्य-पापमिश्रित और पुण्य-पापरहित), विपाक (कर्मफल) तथा आशय (कर्म-संस्कार-समुदाय) से परे पुरुष-विशेषको 'ईश्वर' कहते हैं[5]। श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार वही 'उत्तम पुरुष' है, जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर समस्त भूत-प्राणियोंका धारण-पोषण करता है। वह अविनाशी है, परमेश्वर है, परमात्मा है[6]। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अपनी अमृतमयी वाणीसे कहते हैं—'मैं नाशवान् जड क्षेत्रसे परे हूँ। अक्षर (अविनाशी जीवात्मा) से भी उत्तम हूँ। इसीलिये लोक और वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ[7]।' ब्रह्माने श्रीकृष्णको ही ज्योतिःस्वरूप सगुण-निर्गुण ब्रह्म कहा है[8]। गीताके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ही परब्रह्मका, अमृतका, शाश्वत धर्मका, अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय हैं[9]। ऋग्वेदकी एक ऋचाके अनुसार भी भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषि प्रार्थना करते हैं कि 'हे कृष्ण! हम अपनेको तुम्हारी शरणमें समर्पित करते हैं। रुद्ररूपमें तुम त्रिलोकसंहारक हो, ज्ञानियोंके ज्ञानके स्रोत हो। चलनेमें असमर्थ देवकीके गर्भसे अवतार लेनेके पश्चात् तुमने तुरंत ही अपनेको अलग कर लिया[10]।

श्रीवेदव्यासजीने तो यहाँतक कह दिया है कि भगवान् (विभूतिमान्) के अन्य अवतार अंश और कलाओंको लेकर हुए अर्थात् वे अंशावतार हैं, जिनका आविर्भाव समय-समयपर आसुरी तापसे पीड़ित जीवोंको आनन्द देने-हेतु होता है; परंतु श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं[11]।

भगवान् अपनी अलौकिक शक्तिसम्पन्न विभूतियोंके द्वारा विश्वब्रह्माण्डमें परिव्याप्त हैं। विभूति (वि + भू + क्तिन्) का तात्पर्य है, परम ऐश्वर्य, समृद्धि। भगवद्विभूतियाँ

---

१. उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥
(विष्णुपुराण ६। ५। ७८)

२. विशिष्टाद्वैत दर्शन, तत्त्वत्रय-भाष्य, पृष्ठ १२४।

३. ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥
(विष्णुपुराण ६। ५। ७९)

४. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
(विष्णुपुराण ६। ५। ७४)

५. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
(योगदर्शन १। २४)

६. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
(गीता १५। १७)

७. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
(गीता १५। १८)

८. सगुणं निर्गुणं ब्रह्म ज्योतीरूपं सनातनम्।
साकारं च निराकारं तेजोरूपं नमाम्यहम्॥
(ब्रह्मवैवर्त, श्रीकृष्णजन्मखण्ड ५। ९८)

९. ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(गीता १४। २७)

१०. कृष्णं त एम रुशतः पुरो भाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम्।
यद् प्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो ⋯ ⋯।
(ऋग्वेद ४। ७। ९)

११. एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥
(श्रीमद्भागवत १। ३। २८)

अपने विभूतिमान् (नियामक) के अखण्ड अन्तर्यामित्व, सर्वव्यापकत्व एवं शाश्वत विभुत्वकी परिचायिका हैं; भगवद्विभूतिका आशय या रहस्य अधोलिखित उक्तिसे स्पष्ट हो जाता है—

> सब कुछ मुझमें ही रहता है,
> मैं सबमें हूँ नित्याव्यक्त ।
> पर विभूति-श्री-तेजपुञ्ज जो
> हैं उनमें होता अभिव्यक्त[12] ॥

श्रीकृष्णने स्वयं ही कहा है कि 'हे अर्जुन ! विश्वमें जो-जो विभूति (ऐश्वर्य) युक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त पदार्थ हैं, वह मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न है, ऐसा जानो[13] ।' यहाँपर प्रश्न उठता है कि भगवान्ने ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तुओंको ही अपना स्वरूप अथवा अपनी विभूति क्यों बताया ? यह पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि श्रीकृष्ण ब्रह्म हैं, पुरुषोत्तम हैं, परमात्मा हैं, परमेश्वर हैं; अखण्ड (शाश्वत) सत्तासम्पन्न विश्वात्मा हैं । उनके विभुत्व और प्रभुत्वको अभिव्यक्त करनेकी क्षमता ऐश्वर्य-कान्ति-शक्तियुक्त पदार्थोंमें उसी प्रकार स्वतः सिद्ध है, जिस प्रकार सूर्यके तेजको व्यक्त करनेकी क्षमता रवि-किरणोंमें है । भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको ज्योति (तेज) स्वरूप वस्तुओंमें किरणोंवाला 'सूर्य' कहा है[14] । इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य विश्वके पोषक तत्त्वोंको अपनी सहस्र किरणोंके माध्यमद्वारा संसारमें वितरित करता है, उसी प्रकार विभूतिमान् (ईश्वर) अपनी लीलाका विस्तार ऐश्वर्यशाली, कान्तिमान् एवं शक्तिसम्पन्न विभूतियों (अभिव्यक्तियों) के माध्यमसे करता है । अङ्गिरा ऋषिके पुत्र कुत्सऋषिने ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके ११५वें सूक्तमें सूर्यको जगत्की आत्मा कहा है[15] । श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनसे कहा है कि 'हे अर्जुन ! सब भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा मैं ही हूँ । भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ[16] ।'

भगवान् अपनी उक्त दो विभूतियोंद्वारा समस्त विश्वको परिव्याप्त किये हुए हैं । सूर्य जगत्की आत्मा अथवा जड जगत्के प्रतिनिधि हैं और आत्मा चेतन-जगत्के । जिस प्रकार सूर्यनारायण अपनी किरणोंद्वारा विश्वकी प्रकृति और प्रवृत्तिको विभिन्न प्रकारसे प्रकाशित, प्रभावित एवं प्रेरित करते हैं, उसी प्रकार आत्माका चैतन्यमय प्रकाश प्रत्येक प्राणीको भिन्न-भिन्न अर्थोंमें सजीवित, प्रकाशित और प्रेरित करता है । इसीलिये सर्वत्र इनकी उपासनाका विधान है । श्रीमद्भागवतोक्त 'उद्धव-गीता' के दशम अध्यायमें भी भगवान्की विभूतियोंका वर्णन है । श्रीकृष्णके परम भक्त उद्धवजी कहते हैं—'हे भूतात्मा ! भूतभावन ! बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि आपके जिन रूपों और विभूतियोंकी परम भक्तिके साथ उपासना करते हैं और उसके फलस्वरूप सिद्धि प्राप्त करते हैं, वह आप मुझसे कहिये[17] ।' 'हे महाविभूतिसम्पन्न प्रभो ! अचिन्त्य ऐश्वर्यशाली भगवन् ! पृथ्वी, स्वर्ग, पाताल तथा दिशा-विदिशाओंमें आपके प्रभावसे युक्त जो-जो विभूतियाँ हैं, आप कृपा करके मुझे बताइये । मैं आपके उन चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ जो सब तीर्थोंको भी तीर्थ (पवित्र) बनानेवाले हैं[18] ।'

श्रीमद्भगवद्गीताके दशम अध्यायमें, जिसका नाम 'विभूति-योग' है, अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—'हे भगवन् ! आप अपनी दिव्य (अलौकिक) विभूतियोंको पूर्णरूपेण कहनेकी कृपा कीजिये, जिन विभूतियोंके द्वारा आप

---

१२. कल्याण (सं० २०१७) संख्या ४, पृष्ठ ८२९ ।

१३. यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥
(गीता १० । ४१)

१४. आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
(गीता १० । २१)

१५. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षꣳसूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥
(ऋग्वेद १ । ११५ । १)

१६. अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥
(गीता १० । २०)

१७. येषु येषु च भावेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः ।
उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तद् वदस्व मे ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १६ । ३)

१८. याः काश्च भूमौ दिवि वै रसायां
विभूतयो दिक्षु महाविभूते ।
ता मह्यमाख्याह्यनुभावितास्ते
नमामि ते तीर्थपदाङ्घ्रिपद्मम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १६ । ५)

सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त करके स्थित हैं[19] ।' 'हे योगेश्वर ! किस प्रकार निरन्तर आपका चिन्तन करता हुआ मैं आपको जानूँ । हे भगवन् ! किन-किन भावोंमें आप मेरेद्वारा चिन्तन करने योग्य हैं[20] ।'

ज्ञानी उद्धव और भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त अर्जुनकी भगवद्विभूतियोंके प्रभाव और उनकी उपासनाके महत्त्वको जाननेकी अभिलाषा और जिज्ञासामें ही विभूतियोंका रहस्य छिपा हुआ है—

(१) विभूतियाँ—सूक्ष्मातिसूक्ष्म अव्यक्त ब्रह्मकी स्थूलाभास हैं । देहाभिमानी मानव-हृदयको व्यक्त (स्थूल) से अव्यक्त (सूक्ष्मतत्त्व) की ओर प्रेरित करनेकी माध्यम हैं । श्रीविनोबाजीने ठीक ही कहा है—'पहले स्थूल, स्पष्ट परमेश्वरको प्रकृतिके कण-कणमें देखे । समुद्र, पर्वत आदि महान् विभूतियोंमें प्रकटित परमेश्वर तुरंत आँखोंमें समा जाता है ।'

(२) विभूति-उपासना सरल और सुगम है । भगवान्का विभूत्यात्मक स्वरूप इन्द्रियगोचर है, मन-बुद्धिका विषय है । 'सारी सृष्टिके विविध रूपोंमें, पवित्र नदियोंके रूपमें, विशाल पर्वतोंके रूपमें,[21] गम्भीर सागरके रूपमें[22], शक्तिशाली सिंहके रूपमें[23]........प्रसरणशील ज्वालाओंके रूपमें[24]—सर्वत्र परमात्मा समाया हुआ है ।'

सीयराममय सब जग जानी । करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥
(मानस० बालकाण्ड)

गोस्वामी तुलसीदासजीकी इस विराट्-उपासनामें भगवान्की विभूत्यात्मक उपासनाका रहस्य छिपा हुआ है ।

(३) भगवद्विभूतिके संनिकर्षसे जीव ब्रह्मका सांनिध्य प्राप्त करनेमें अपेक्षाकृत अधिक सुविधाका अनुभव करता है । भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही विभूति-उपासनाका महत्त्व बताते हुए कहते हैं—"जो पुरुष मेरी परमैश्वर्यरूप विभूतिको और योगशक्तिको तत्त्वसे जानता है अर्थात् सम्पूर्ण विश्वको 'वासुदेवमय' जानता है, वह निश्चल ध्यानयोगद्वारा निःसंदेह मेरे स्वरूपमें ही एकीभावसे स्थित होता है[25] ।"

(४) पृथक्-पृथक् विभूति (व्यष्टि) के समन्वितरूपको ही विराट् (समष्टि)—विभूतिमान्—ब्रह्म कहते हैं । श्रीमद्भगवद्गीताका दशम अध्याय विभूतियोगके नामसे प्रसिद्ध है । यह विभूतियोग गीतामें समन्वयवादका परिचायक है । भगवान्की विभूतियोंका अन्त नहीं है । श्रीकृष्णचन्द्रजी कहते हैं—'हे अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है । मैंने अपनी विभूतियोंका विस्तार तुम्हारे लिये संक्षेपमें कहा[26] ।' भगवान् अंशी हैं, विभूतियाँ अंश । जैसे इन्द्रियों और शरीरमें अंशांशि-भाव है, वैसे ही विभूतियों और विभूतिमान्में अंशांशि-भाव है ।

श्रीव्यासजीके अनुसार भगवान्के भक्त वैष्णव-जन जड-चेतन सभीमें अपने प्रभु भगवान्का दर्शन करके सबको नमस्कार करते हैं । 'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, लता, नदियाँ और समुद्र जो कुछ भी (विभूतियाँ) हैं, सभी भगवान् हरि (विभूतिमान्) का शरीर ही हैं; अतः सबको अनन्यभावसे प्रणाम करना चाहिये[27] ।'

---

१९. वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥
(गीता १० । १६)

२०. कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥
(गीता १० । १७)

२१. स्थावराणां हिमालयः ।—स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय पर्वत हूँ ।
(गीता १० । २५)

२२. सरसामस्मि सागरः ।—जलाशयोंमें सागर—समुद्र हूँ ।
(गीता १० । २४)

२३. मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहम् ।—पशुओंमें सिंह हूँ ।
(गीता १० । ३०)

२४. वसूनां पावकश्चास्मि ।—आठ वसुओंमें अग्नि हूँ ।
(गीता १० । २३)

२५. एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥
(गीता १० । ७)

२६. नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥
(गीता १० । ४०)

२७. खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २ । ४१)

भगवान्‌की दिव्य विभूतियाँ, जिनकी उपासनाका शास्त्रोंमें विधान है—अनन्त हैं। प्रणव या ओङ्कार भगवान्‌की अलौकिक विभूति है। श्रीकृष्ण कहते हैं—'मैं ही सब वेदोंमें ओङ्कार हूँ[२८]। जो ज्ञातव्य (जाननेयोग्य) है, जिसे जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, वह पवित्र ओङ्कार मैं ही हूँ[२९]।' ओङ्कारकी उपासनाका महत्त्व बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'जो पुरुष 'ॐ' ऐसे एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ, उसके भावरूप मुझ परमात्माको स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है वह पुरुष परम गतिको प्राप्त करता है[३०]।'

'कठोपनिषद्'में यमराज नचिकेताको ज्ञानोपदेश देते हुए कहते हैं—'जिसको समस्त वेद परम वाञ्छित बतलाते हैं, सब प्रकारके तप जिसकी प्राप्तिका उपाय घोषित करते हैं, मनुष्य जिसको प्राप्त करनेके हेतु ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, वह परम अभिलषित तत्त्व पुरुषोत्तम ओङ्कार है[३१]।' मुण्डकोपनिषद्में सब साधनोंका निष्कर्ष, मनुष्य-जीवनका लक्ष्य यह बताया गया है कि—'ओङ्कार ही धनुष है, आत्मा ही बाण है और परब्रह्म उसका लक्ष्य है। प्रमादरहित साधकद्वारा ही उस लक्ष्यका भेदन सम्भव है। उसे बेधकर बाणवत् उस (लक्ष्य-ब्रह्म) में तन्मय हो जाना चाहिये[३२]।'

आत्माको भगवान् श्रीकृष्णने अपनी महान् विभूति बताया है। समस्त भूत-प्राणियोंमें स्थित आत्मा भगवत्स्वरूप है[३३]। वेदान्तके अनुसार मानव-जीवनका चरम लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार या आत्मानुभूति है—'आत्मा ही देखने, सुनने, विचार-मनन करने योग्य है। सम्यग्दर्शन, श्रवण-मनन-ज्ञानके द्वारा आत्माका स्वरूप जाना जा सकता है[३४]।

भगवान्‌की दिव्य विभूतियोंमें शस्त्रधारी श्रीरामका नाम अग्रगण्य है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'शस्त्रधारियोंमें मैं राम हूँ[३५]।' अपनी इस विभूतिद्वारा भगवान्‌ने सामान्योन्मुखी उपासनाका मानो मङ्गलमय मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस विभूतिकी अवतारणाद्वारा भगवान्‌के अवतारका रहस्य भी स्पष्ट हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं—'हे अर्जुन! जब-जब धर्मकी हानि, अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने रूपको रचता हूँ, अर्थात् प्रकट होता हूँ। साधुओंका उद्धार करनेके लिये, दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके हेतु और धर्मकी स्थापना करनेके निमित्त युग-युगमें मैं अवतार धारण करता हूँ[३६]।'

भगवान् रामके आविर्भावका रहस्य भी गीतोक्त अवतारवादके सदृश ही प्रभावशाली है। श्रीशंकरजी कहते हैं—'हे पार्वती! जब-जब धर्मका ह्रास होता है और नीच अभिमानी राक्षस बढ़ जाते हैं; वे ऐसा अन्याय करते हैं जिसका वर्णन नहीं हो सकता तथा ब्राह्मण-गौ-देवता और पृथ्वी कष्ट पाते हैं, तब-तब वे कृपानिधान प्रभु भाँति-भाँति-

---

२८. प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।
(गीता ७। ८)

२९. वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।
(गीता ९। १७)

३०. ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥
(गीता ८। १३)

३१. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
(कठोपनिषद् १। २। १५)

३२. प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥
(मुण्डक० २। २। ४)

३३. अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
(गीता १०। २०)

३४. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः; आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति। (बृहदारण्यक उपनिषद् २। ४। ५)

३५. पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥
(गीता १०। ३१)

३६. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४। ७-८)

के दिव्य शरीर धारणकर सज्जनोंकी पीड़ा हरते हैं[३७]।'

'वाल्मीकि-रामायण'में विष्णु भगवान् अपने आविर्भावका रहस्य बताते हुए कहते हैं—'हे देवगण ! तुम्हारा कल्याण हो; भयको त्याग दो। मैं तुम्हारा हित करनेके लिये रावण-को पुत्र, पौत्र, अमात्य, मन्त्री और बन्धु-बान्धवोंसहित युद्धमें मार डालूँगा। देवताओं और ऋषियोंको भय देनेवाले उस क्रूर दुर्धर्ष राक्षसका नाश करके मैं ग्यारह हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीका पालन करता हुआ मनुष्यलोकमें निवास करूँगा[३८]।'

'महारामायण'में श्रीरामचन्द्रजीको भी 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'के समान ही षड्गुणयुक्त भगवान् (पूर्णब्रह्म नारायण) कहा गया है।[३९] भगवान् श्रीराम (महाविभूति) का सार्वकालिक एवं सार्वभौम महत्त्व अक्षुण्ण है। श्रीराम-का शस्त्रधारी स्वरूप चाणक्यनीतिके अनुसार लोककल्याण-कारी, धर्मरक्षक और शास्त्र-चिन्तापरक है। चाणक्यने कहा है कि 'शस्त्रविद्या स्वभावसे ही सब प्रकारकी विद्याओंमें महीयसी (महत्त्वपूर्ण) है; क्योंकि शस्त्रके द्वारा रक्षित राष्ट्रमें ही शास्त्रोंका पठन-पाठन सम्यक् रूपसे होता है[४०]।' श्रीरामका यह 'शस्त्रादर्श' लड़कपनमें ही विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा करनेमें प्रकट हो जाता है। विश्वामित्रजीके आश्रममें पहुँचते ही श्रीरामने कहा—"हे मुनि ! आप निर्भय होकर यज्ञ कीजिये।' यह सुनकर सब ऋषि हवन करने लगे। भगवान् श्रीराम यज्ञकी रखवाली करने लगे। यह समाचार सुनकर मुनियोंका शत्रु क्रोधी राक्षस मारीच अपने सहायकोंको लेकर दौड़ा। श्रीरामने बिना फरके बाणसे उसे ऐसा मारा कि वह सौ योजनके विस्तारवाले समुद्रके पार जा गिरा[४१]।"

'तत्पश्चात् श्रीरामने सुबाहुको अग्निबाणसे मारा, उधर लक्ष्मणजीने असुर-सेनाका संहार किया। इस प्रकार राक्षसोंको मारकर श्रीरामने ब्राह्मणों (मुनियों) को निर्भय कर दिया। तब देवता और मुनि भगवान् श्रीरामकी स्तुति करने लगे[४२]।'

भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य विभूतियोंके प्रभाव और महत्त्वको जानकर, भगवान्के ही मुखारविन्दसे सुनकर कि 'अदितिके बारह पुत्रों (आदित्यों) में वे ही विष्णु हैं, ज्योतिष्मान् वस्तुओंमें सूर्य हैं, वायु देवताओंमें मरीचि नामक वायुदेवता हैं, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा हैं,[४३] देवताओंमें वासव (इन्द्र) हैं,[४४] जलचरोंमें (उनके अधिपति) वरुण देवता हैं, शासन करनेवालोंमें यमराज हैं,[४५] पवित्रकारक वस्तुओंमें पवन हैं और आठ वसुओंमें अग्नि हैं, अर्जुन ! इन सब विभूतियोंके ब्रह्म (विभूतिमान् अङ्गी) का ही अभिन्न स्वरूप (अङ्ग) मानकर अर्थात् इन्हें भगवान्के विराट् स्वरूपका अंश मानकर प्रार्थना करते हैं—'हे भगवन् !

---

३७. जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
(रा० च० मा०, बालकाण्ड, दो० १२० । ६–८)

३८. भयं त्यजत भद्रं वो हितार्थं युधि रावणम्।
सपुत्रपौत्रं सामात्यं समन्त्रिज्ञातिबान्धवम्॥
हत्वा क्रूरं दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम्।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च॥
वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन् पृथिवीमिमाम्।
(वाल्मीकि रा०, बाल० १५ । २८-२९, ३०)

३९. भरणः पोषणाधारः शरण्यः सर्वव्यापकः।
करुणः षड्गुणैः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्॥
(महारामायण)

४०. शस्त्रविद्या स्वभावेन सर्वाभ्योऽपि महीयसी।
शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते॥
(चाणक्यनीति)

४१. प्रात कहा मुनि सन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई॥
होम करन लागे मुनि झारी। आपु रहे मख कीं रखवारी॥
सुनि मारीच निसाचर क्रोही। लै सहाय धावा मुनि द्रोही॥
बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥
(रा० च० मा०, बाल०, दो० २०९ । १–४)

४२. पावक सर सुबाहु पुनि मारा। अनुज निसाचर कटकु सँघारा॥
मारि असुर द्विज निर्भयकारी। अस्तुति करहिं देव मुनि झारी॥
(रा० च० मा०, बाल०, दो० २०९ । ५-६)

४३. आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥
(गीता १० । २१)

४४. देवानामस्मि वासवः। (गीता १० । २२)
इन्द्रोऽहं सर्वदेवानाम्॥ (श्रीमद्भागवत ११ । १६ । १३)

४५. अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥
(गीता १० । २९)

आप ही वायु हैं। यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं; आपको सहस्र बार नमस्कार है; आपको पुनः-पुनः बारम्बार नमस्कार है[४६]।'

ऋग्वेदमें भी उक्त दिव्य विभूतियोंके समन्वित स्वरूप (विभूतिमान्)की प्रार्थना करते हुए मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं—एक (एकमेव द्वितीयो नास्ति) होते हुए भी उस परमात्माको विद्वान् इन्द्र, मित्र (सूर्य), वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि नामोंसे पुकारते हैं[४७]। भगवान्‌की अनन्त विभूतियोंपर विचार करना इस छोटेसे लेखमें सम्भव नहीं है। अन्तमें हम भगवान्‌के इस आदेशको शिरोधार्य करते हुए कि—'जिसमें भी तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पराक्रम, तितिक्षा (सहनशीलता) और विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हैं, सब भगवान्‌के ही अंश (विभूति) हैं[४८]।' एवं भगवान्‌की इस आज्ञाका पालन करते हुए कि—'जो पुरुष श्रीवत्स आदि चिह्न और शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म आदि आयुधोंसे सम्पन्न भगवान्‌के दिव्य अवतारोंका ध्यान करता है वह अजेय हो जाता है[४९]।' इस निष्कर्षपर पहुँचकर आश्वस्त हो जाते हैं—नतमस्तक हो जाते हैं कि 'वृष्णिवंशियों (यादवों) में वासुदेव अर्थात् श्रीकृष्ण और पाण्डवोंमें धनंजय अर्थात् अर्जुन[५०], जहाँ रहते हैं वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति' रहती हैं[५१]।

पूर्णाहंता-रहस्य

(लेखक—श्रीजयराजजी वशिष्ठ)

'पूर्ण मैं' या 'मैं पूर्ण हूँ' यह पूर्णाहंता है। जीव इस पूर्णाहंताको कैसे जाने और इससे कैसे युक्त हो ? जीवका स्वभाव अपूर्ण, परिच्छिन्न अहंकारपर आधारित है। पूर्णताका अहंकार ईश्वरका अहंकार है। ईश्वर पूर्ण है; जीव अपूर्ण है। ईश्वर पूर्ण अहंकारवाला होनेसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है; जीव अपूर्णअहंकारवाला होनेसे अल्पज्ञ और अल्प-शक्तिमान् है। वास्तवमें जीव ईश्वरका ही अंश है, इसलिये पूर्णाहंताको जानना और इसे प्राप्त करना जीवका सजातीय जन्मसिद्ध अधिकार है।

प्रश्न यह है कि जीवमें अल्पत्व आया कहाँसे ? इसको जीवभाव क्यों प्राप्त हुआ ? जीव यदि ईश्वरका अंश है तो अल्प अंशमें भी पूर्णईश्वरका स्वभाव झलकना चाहिये; परंतु जीव स्वाभाविक ही अपने-आपको अल्प-ज्ञानवाला, अल्प-शक्तिवाला समझता है; जन्मने-मरनेवाला समझता है। सारे संसारसे दूसरोंसे अपनेको अलग व्यक्तित्ववाला समझता है। जीवमें समष्टित्वसे व्यष्टित्ववाला भाव कैसे उदित हो गया ? प्रतीत होता है कि एक पूर्ण-अहंकारको खण्डित किया गया है अनन्त भागोंमें। कैसे ? 'एकोऽहं बहु स्याम्' श्रुतिके

४६. वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च। नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ (गीता ११। ३९)

४७. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋग्वेद, १। १६४। ४६)

४८. तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः। वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः॥ (श्रीमद्भागवत ११। १६। ४०)

४९. मद्विभूतीरभिध्यायन् श्रीवत्सास्त्रविभूषिताः। ध्वजातपत्रव्यजनैः स भवेदपराजितः॥ (श्रीमद्भागवत ११। १५। ३०)

५०. वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः। मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ (गीता १०। ३७)

५१. यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ (गीता १८। ७८)

अनुसार परमात्मा एकसे बहुत हो गये। यह भगवान्‌का आदिसंकल्प है; यही भगवान्‌की आदि-इच्छा है; यही भगवान्‌की आदिशक्ति है। आदिपुरुष भगवान् स्वयं श्रीकृष्ण हैं और आदिशक्ति भगवती स्वयं श्रीराधाजी हैं। इन दोनोंकी लीला है यह सारा जगत्। एकसे बहुत बननेके लिये एक आत्माको बहुत आत्माओंमें विभक्त किया गया। एक पूर्णको बहुत अपूर्णोंमें विभक्त किया गया। एक पूर्णाहंकारको बहुत अपूर्णाहंकारोंमें विभक्त किया गया। इन अनन्त अहंकारोंके योग्य अनन्त शरीर रचे गये। यह सब कुछ रचा आदिशक्तिने। यह सब राधा-कृष्ण दोनोंकी सच्चिदानन्दमयी लीला है। वे दोनों स्वयं सच्चिदानन्द हैं, इसलिये उनकी आदिसृष्टि सब सच्चिदानन्द-स्वरूप है। सत्-चित्-आनन्द ये परमात्माके सर्वोत्कृष्ट स्वरूप गुण हैं; ये ही आदि-सृष्टिके उपादानकारण हैं; ये ही निमित्तकारण हैं, ये ही समवायकारण हैं; ये ही परमात्माकी त्रिपादविभूति हैं। कहीं सत्‌की प्रधानता है, कहीं ज्ञानकी प्रधानता है तो कहीं आनन्दकी प्रधानता है। यह त्रिपाद-सृष्टि एकताके आधारपर रची गयी है। इस सृष्टिके प्रत्येक अणुमें सत्-चित्-आनन्दकी ही झलक दीखती है। इस आदि-सृष्टिके विधान, समाज, राज्य, विचार, कर्म, लक्ष्य—सब सच्चिदानन्दरूप ही है। इस आदिसृष्टिका प्रेम सर्वोत्कृष्ट है। सब कुछ राधे-श्यामकी सच्चिदानन्दमयी झलक है। नित्य नवीन प्रेम-रस, नित्य नवीन सौन्दर्य, नित्य नवीन शान्ति, नित्य नवीन आनन्द—इस सृष्टिका विलास है। हमलोगोंवाली इस त्रिगुणात्मक-सृष्टिके सत्-रज-तमका उस सृष्टिमें प्रवेश नहीं है। उस सच्चिदानन्दमयी सृष्टिको अक्षर-ब्रह्म कहा जाता है। उस सृष्टिका आदि-अन्त कभी नहीं होता। वह सृष्टि एकता या अद्वैतके आधारपर रची गयी है। वहाँ सबको अद्वैतका आभास होता है, नित्य मोक्षका आभास होता है। वह सृष्टि ईश्वरीय है; उसमें अद्वैतानन्दका ही साम्राज्य है। वह पूर्ण अहंताका राज्य है।

यह तो हुई ब्रह्मकी त्रिपादविभूतिवाली सृष्टि; अब लीजिये—ब्रह्मकी अविद्यापादवाली सृष्टि। यह ब्रह्मके चौथे पादवाली सृष्टि है जो कि ब्रह्माद्वारा रची गयी है। यह त्रिगुणात्मक सृष्टि है। यह सृष्टि कालके अधीन है। काल गुणोंको क्षोभित करके इस सृष्टिका संचालन करता है। इस सृष्टिमें जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, भय, चिन्ता, रोग और बुढ़ापाका राज्य है। रागद्वेष इस सृष्टिमें भरे पड़े हैं। इस सृष्टिमें आठ देवयोनियाँ और मनुष्यसे नीचे स्थावरतक चौरासी लाख योनियाँ रची गयी हैं। चौरासी लाख योनियाँ इस प्रकार हैं—

१—धातु	योनि	=	२०	लाख
२—वनस्पति	,,	=	१०	लाख
३—सरीसृप	,,	=	१०	लाख
४—पक्षी	,,	=	१०	लाख
५—पशु	,,	=	३०	लाख
६—वानर	,,	=	४	लाख
	जोड़	=	८४	लाख

जीवात्मा अनन्त अहंकारोंसे युक्त होकर इन योनियोंमें चक्कर काटता है। कभी पुण्यवश ऊँची योनियोंमें जाता है, कभी पापवश नीची योनियोंमें चला जाता है। जीवात्मा प्रत्येक योनिमें अलग-अलग अहंकार और अलग-अलग शरीरसे युक्त होता है।

अब प्रश्न यह है कि जब ऊपर सच्चिदानन्दमयी सृष्टि विद्यमान है तो इस ब्रह्मावाली सृष्टिकी क्या आवश्यकता है? इसका कारण यह है कि श्रुति 'एकोऽहं बहु स्याम्' उस सच्चिदानन्दमयी सृष्टिमें चरितार्थ नहीं हुई; क्योंकि उस सृष्टिके प्रत्येक अणुमें एकता, पूर्णता, अद्वैतका ही भास होता है। एकता-ही-एकता, अद्वैत-ही-अद्वैत वहाँ है। उस सृष्टिमें 'एकोऽहम्' का 'बहु स्याम्' से कोई भेद प्रतीत नहीं होता। पूर्णताका अहं ही वहाँ झलकता है। 'बहु स्याम्' का यथार्थ रूप वहाँ नहीं है। वह सृष्टि अभेदरूपा है। इस कारण वह सृष्टि 'एकोऽहम्' रूप ही रही। 'बहु स्याम्' रूप न बन सकी। सृष्टिको यथार्थ रूपमें 'बहु स्याम्' बनानेके लिये अविद्या (अज्ञान) और भेदवाली सृष्टिकी आवश्यकता प्रतीत हुई। तब यह हमलोगोंवाली सृष्टि अविद्या—अज्ञान, भेदके आधारपर रची गयी। पूर्ण अहंकार और पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्दके अज्ञानके आधारपर अनन्त खण्ड हो गये। इस प्रकार ये अपरिच्छिन्न ज्ञान और अहंकार परिच्छिन्न ज्ञान और अहंकार बन गये। इस सृष्टिको ही काल खाता है; क्योंकि यह सृष्टि कालकी अपेक्षासे रची गयी है। यथार्थमें 'बहु स्याम्' वाली भगवान्‌की आदि-इच्छा इस अविद्या और भेदमयी सृष्टिमें ही चरितार्थ हुई है। आदि सच्चिदानन्दमयी सृष्टि 'अपरिच्छिन्न' अहंकारके आधारपर रची गयी है और यह हमलोगोंवाली सृष्टि 'परिच्छिन्न' अहंकारके आधारपर रची गयी है। वह 'एकोऽहम्'

सृष्टि है; यह 'बहु स्याम्' सृष्टि है। वहाँ सर्वज्ञता-सर्वशक्तिमत्ता है, यहाँ अल्पज्ञता-अल्पशक्तिमत्ता है। परिच्छिन्न अहंकारमें अल्प-ज्ञान और अल्प-शक्ति अनिवार्य है। वहाँ सत्-चित्-आनन्द एक दूसरेके पोषक ही हैं, विध्वंसक नहीं। यहाँ सत्-रज-तम एक दूसरेके पोषक भी हैं और विध्वंसक भी हैं। ये सत्-रज-तम विषमरूपसे बर्तते हैं, ये ही जीवोंके अनन्त विषम स्वभावोंके कारण हैं। कभी सत्ययुगमें कुछ झलक सच्चिदानन्दमयी सृष्टिकी अविद्यापादमें उतरती है।

पूर्णभावसे जीव-भावकी परिणति इस भेदकी सृष्टिके प्रयोजनसे हुई। जीवात्मा जिस अहंकार और शरीरसे अध्यासयुक्त होता है, उसीके स्वभावसे मेल पा जाता है। जीवात्मा देवमें देव, सिद्धमें सिद्ध, मनुष्यमें मनुष्य, पशुमें पशु, वनस्पतिमें वनस्पति और पत्थरमें पत्थरके स्वभाववाला बन जाता है। कुत्तेमें कुत्तेके स्वभाववाला, बिल्लीमें बिल्लीके स्वभाववाला, चूहेमें चूहेके स्वभाववाला, बच्चेमें बच्चेके स्वभाववाला, जवानमें जवानके स्वभाववाला, बूढ़ेमें बूढ़ेके स्वभाववाला, योद्धा-डाक्टर-व्यापारी-कृषक आदि अनन्त उपाधियोंके अनुसार जीवात्माका चेतन अहम् प्रवर्तता है। यह सब चेतन-अहंका ही प्रदर्शन है। इतनी बड़ी भेदकी लीलाके लिये भगवान् 'बहु स्याम्' हुए। एक आत्माको अनन्त आत्माओंमें विभक्त-सा किया। एक पूर्ण अहंकारको अनन्त परिच्छिन्न अहंकारोंमें विभक्त किया। एक मनको कई मनोंमें विभक्त किया। एक पूर्ण सत्को कई परिच्छिन्न सद्वस्तुओंमें विभक्त किया। एक पूर्ण इच्छाको अनन्त अपूर्ण इच्छाओंमें विभक्त किया। एक रूपको अनन्त परिच्छिन्न रूपोंमें विभक्त किया। एक शब्दको कई शब्दोंमें विभक्त किया। एक पूर्ण आनन्दको अनन्त अपूर्ण आनन्दोंमें विभक्त किया। एक पूर्ण ज्ञानको अनन्त अपूर्ण ज्ञानोंमें विभक्त किया। प्रत्येक योनिके अनुसार अपने अहंकार-इच्छा-मन-ज्ञान-शक्ति-आनन्दको विभक्त किया। ये सब वास्तविक विभाजन नहीं हैं। बल्कि एक प्रकारकी भगवान्की अभिव्यक्ति ही है—उनकी अपनेमें ही अपनेसेही अपनी सब रचना है।

पूर्ण चेतनको क्रमानुसार भेद-ज्ञान और परिच्छिन्न अहंकारके आधारपर घटाते-घटाते ईश्वरसे देव, सिद्ध, मनुष्य, पशु, वनस्पति, पत्थरतक पूर्ण अचेतन बना दिया। ईश्वर पूर्ण चेतन है तो पत्थर पूर्ण अचेतन। इसी प्रकार पूर्ण ज्ञानको क्रमानुसार घटाते-घटाते पत्थरतक पूर्ण अज्ञानका रूप दे दिया। पूर्ण अभेदको पूर्ण भेदके रूपमें बदल दिया। पूर्ण शक्तिमान्को घटाकर पूर्ण शक्तिहीन पत्थर बना दिया। सत्को असत्में, चेतनको जड़में, आनन्दको दुःखमें बदल दिया। पूर्णसे अपूर्ण बनना और फिर अपूर्णसे पूर्ण बनना—यही है सारा खेल (लीला) भगवान्का। अमर आत्माको मर जीवात्मा बना दिया। अकालको काल बना दिया। यह है भगवान्की लीला-कल्पना-शक्तिकी महिमा। इस भेदजगत्में प्रत्येक अपनेको दूसरोंसे अलग समझता है और अहं-ममके आधारपर झगड़ा करता है, एक दूसरेसे होड़ रखता है। यह सब खेल परिच्छिन्न अहंकारके आधारपर है। इस जगत्में रोग, भय, चिन्ता, मृत्यु, राग-द्वेष इत्यादि सब परिच्छिन्न अहंकारका फल है। परिच्छिन्न अहंकारमें ज्ञान, शक्ति, बुद्धि, मन, आयु सब परिच्छिन्न ही होते हैं—इस कारण यहाँ सब अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् ही हैं। एक दूसरेसे होड़ रखते हैं। बड़े कमालका खेल है यह। बड़ी विचित्र अचिन्त्य लीला है यह।

मनुष्य-स्तरसे नीचे चौरासी लाख योनि तामस योनियाँ हैं। इन योनियोंमें पत्थरसे लेकर पशुतक कोई न तो अपने-आपको जानता है, न दूसरी योनिवालेको जानता है। कुत्ता, भैंस, गाय, हाथी इत्यादि कोई भी अपनेको नहीं जानता कि मैं कुत्ता हूँ, भैंस हूँ, गाय हूँ, हाथी हूँ। इसी प्रकार और योनिवाले भी एक दूसरेको नहीं जानते। ये सब अज्ञान-अन्धकारमें डूबे हैं। संसारमें सबकी कीमत मनुष्य-योनिमें ही पड़ती है। नीचेकी सब योनियोंकी कीमत तथा ऊपरकी आठ देव-योनियाँ तथा ईश्वरका आभास-ज्ञान तथा प्रत्यक्ष-ज्ञान भी मनुष्यमें ही कीमत रखता है। संसारकी समस्त वस्तुओंका उपयोग मनुष्य ही करता है। मनुष्य-स्तरसे नीचे महान् अन्धकार है। इसी कारण मनुष्यको शास्त्रोंमें बहुत उपदेश दिया गया है कि वह पाप-कर्म करके मनुष्य-स्तरसे नीचे न गिर जाय; कहीं पशु, वनस्पति, पत्थरके अहंमें न चला जाय, बल्कि देव-अहं, ईश्वर-अहं या पूर्ण-अहंकी ओर आरोहण करे।

पत्थर अपनी अज्ञात अहंताको योनि-अनुसार बदलता हुआ वनस्पति, पशु, मनुष्यतक विकसित होता—आरोहण करता है। केवल मनुष्य बनकर जानता है कि 'मैं मनुष्य हूँ' और नीचेकी सब योनियोंको भी जानता है। इसी प्रकार एक नास्तिक मनुष्य भी अपनी मनुष्य-चेतनाके अहंकारको भुलाता हुआ क्रमानुसार पशु, वनस्पति, पत्थरतकमें जा

सोता है। यह केवल चेतन अहंताका भुलाना और ढूँढ़ना है। यह एक प्रकारकी शृङ्खला (Chain) ऊपरसे नीचे और नीचेसे ऊपर निरन्तर चल रही है। यह सब ऊपरसे नीचे और नीचेसे ऊपर योनि-परिवर्तन ही है—जीवका संकोच और विकास ही है। जीव पत्थरके स्तरसे विकसित होता हुआ मनुष्यके स्तरपर आकर जडवादी ही होता है—'बहुधा पशुस्वभाववाला ही होता है—अध्यात्मवादी नहीं होता। उसका परमात्मा पृथ्वी (Matter) ही होती है। वह कहता है कि 'पृथ्वी (Matter) से ही मनुष्यतक सब कुछ पैदा होता है और अन्तमें पृथ्वीमें ही सब कुछ समा जाता है। (Matter is their alpha and omega)- पृथ्वी ही जडवादीका आदि-अन्त है। सब जीवोंके शरीर पृथ्वीसे पैदा होते हैं। जीवन, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार सब कुछ पृथ्वीसे पैदा होता है; सब पृथ्वीसे पैदा हुई खुराक खाते हैं; पृथ्वीपर पलते-बढ़ते हैं और अन्तमें पृथ्वीमें जा समाते हैं।' उनका ऐसा कहना इस समझ और स्तरके अनुसार ठीक ही है। इस समझ और निश्चयके अनुसार ये जडवादी पत्थरसे मनुष्य-स्तरतक आरोहण करके फिर पत्थरकी ओर प्रस्थान करते हैं; क्योंकि इनके निश्चयमें सब कुछ जड (Matter) ही जड (Matter) है। चेतन जीवात्माको तो ये मानते नहीं। इस प्रकारके मन्दबुद्धि मनुष्यके लिये शास्त्र मौजूद है। जो भाग्यवान् अध्यात्मको समझने लगता है, वह इस तमोमय जडवादसे अपने जीवात्माका उद्धार कर लेता है—नहीं तो पत्थरवादी पत्थरमें ही जायगा; क्योंकि उसका लक्ष्य ही जडवाद है। इसीलिये शास्त्रने मनुष्यके लिये कड़ी चेतावनी (Warning) दे रक्खी है कि वह मनुष्य-स्तरसे नीचे न गिरे और सदाचारमें संलग्न रहे।

पत्थरसे लेकर पशुस्तर या वानरस्तरतक अहंता अज्ञात-रूपसे विकसित होती है, मनुष्यसे लेकर पूर्णतातक ज्ञातरूपसे विकसित होती है। परंतु जबतक पूर्ण अपरिच्छिन्नभावसे अभिन्न नहीं होती, पतनका भय रहता है; क्योंकि देव-योनियोंका पतन भी देखा जाता है। देवलोकोंसे देवताओंका पतन शास्त्रोंमें भलीभाँति वर्णित है। विकासकी अपेक्षा संकोच आरम्भ हो जाता है। यही भवाटवी-चक्र है। यह ऐसा अनात्म-अहंकारके कारण होता है। आत्म-अहंकारके कारण आरोहण होता है, अनात्म-अहंकारके कारण अवरोहण। पूर्णाहंतापर आरोहण-अवरोहणका क्रम समाप्त हो जाता है। पत्थरके अहंका विकास पूर्ण परमात्माके अहंतक होना अनिवार्य है; क्योंकि उस पूर्णसे ही संकुचित होता अहं पत्थरकी सीमातक संकुचित हुआ है और फिर उस पूर्ण संकोचसे वह पूर्ण विकासकी ओर उसका प्रस्थान करता है। पत्थरसे नीलम, हीरा, सोना, चाँदी आदि धातुवर्गमें घूमता हुआ उपजाऊ मिट्टी, फिर घास, अङ्कुर, वनस्पतिवर्गमें घूमता हुआ कीटाणु, मच्छर, मक्खी, कीड़ा आदिमेंसे होता हुआ पशु, वानर, मनुष्य, सिद्ध, देव, ईश्वरतक जीव आरोहण करता है। यह जीवका पूर्ण परिच्छिन्न अहंतासे पूर्ण अपरिच्छिन्न अहंतातक विकास-क्रम है। जीवात्मा और उसका अहं साथ-साथ ही गतिशील होते हैं। पहले अपने-आपको क्रमानुसार भुलाते हुए पत्थर-स्तरपर अपनेको पूर्णरूपसे भूल जाना और फिर अपनी खोज आरम्भ करके अपनेको पूर्ण भावमें प्रतिष्ठित करना—संकोच-विकासका खेल है। छिपना और फिर ढूँढ़ना यह भगवत्-लीला है।

सृष्टिका प्रत्येक अणु पूर्ण है; क्योंकि प्रत्येक अणुमें आरोहण-अवरोहणका पूरा मार्ग खुला है और प्रत्येक अणु ऊपर-नीचेका केन्द्र है। प्रत्येक अणुमें पूर्णभाव समाया हुआ है। अणुका एक रूप तो प्रत्यक्ष इन्द्रिय-गोचर होता है और इसके भीतर क्रमानुसार पूर्ण विकास और पूर्ण संकोचका क्रम निरन्तर विद्यमान रहता है। पत्थरमें भी पूर्ण विकासका भाव छिपा है। पत्थरमें वनस्पति, पशु, मनुष्य, सिद्ध, देव, ईश्वरतकके अहंभाव गुप्तरूपसे बीजरूपमें मौजूद हैं। इसी प्रकार सब प्रकारकी योनियोंमें पत्थरसे ईश्वरतकके भाव निहित हैं। भगवान्का पूर्णत्व प्रत्येक परमाणुमें विद्यमान है। यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे—इसी कारण भगवान्को सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक कहा जाता है। ब्रह्माण्डसे अणुतक सब पूर्णतासे वेष्टित है। कोई भी ऐसा अंश नहीं है जो पूर्णतासे रहित हो। मनुष्यमें जहाँ ८४ लाख योनिके संस्कार बीजरूपसे मौजूद हैं—वहाँ सिद्ध, देव, ईश्वरके संस्कार भी बीजरूपसे मौजूद हैं। परंतु इस नाटकमें सब योनियोंके अपने-अपने रूप अपने-अपने समयमें रंगमञ्च-पर आ रहे हैं और तिरोहित हो रहे हैं। प्रत्येक योनिका प्रत्येक भाव अपने-अपने स्थानपर पूर्णताका केन्द्र है। मनुष्य चौरासी लाख योनियोंमें भी अवरोहण कर सकता है और ऊपर ईश्वरभावतक भी सायुज्य प्राप्त कर सकता है। यह है भगवान्का 'बहु स्याम्' रूप। अब बताइये जब भगवान् पूर्ण हैं, तो उनका 'बहु स्याम्' रूप क्यों अपूर्ण हो ? 'बहु स्याम्' रूपमें प्रत्येक रूप पूर्ण है। केवल लीलाके प्रयोजनसे एक-एक रूप

रंगमञ्चपर आ रहा है और अपनी-अपनी लीला कर रहा है। जीव रूप बदल-बदलकर कई रूपसे लीला कर रहा है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

'सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम परिपूर्ण हैं। उनसे अभिव्यक्त हुआ यह जगत् भी पूर्ण है। पूर्णसे पूर्ण जगत्की ही उत्पत्ति है। इस प्रकार पूर्णके पूर्णको अभिव्यक्त करनेपर पूर्णका पूर्ण ही रह जाता है।' अभिव्यक्त रूपसे देखें तो भी पूर्ण है, अव्यक्त रूपसे देखें तो भी पूर्ण है। पूर्णकी अपनी अव्यक्ततामें ही यह अभिव्यक्तता है। विभाजनकी दृष्टिके लिये स्थान नहीं है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गीता ७। १९)

'बहुतसे जन्मोंके अन्तमें ज्ञानको प्राप्त ज्ञानी सब कुछ वासुदेव है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा बड़ा दुर्लभ है।'

इन ऊपर वर्णित किये गये श्लोकोंके अनुसार पूर्णता निरन्तर विद्यमान है, परंतु हम अज्ञानके कारण उस पूर्णताका प्रत्यक्ष रूप नहीं जानते। अज्ञानके कारण हमारा अहंकार परिच्छिन्न है। परिच्छिन्न अहंकारके कारण हम अपूर्णताका ही दर्शन करते हैं। पूर्ण दर्शनके लिये हमें पूर्ण अहंकारसे तादात्म्य प्राप्त करना अनिवार्य है। वास्तवमें यह हमारी अविद्यापादवाली सृष्टि भी सच्चिदानन्दमयी है, केवल अज्ञानके कारण हमें यह अपूर्ण भासती है। यहाँ अज्ञानका त्रिगुणात्मक रूप (Lense) शीशा लगा हुआ है। त्रिगुणात्मक (Lense) शीशा भेदबुद्धि पैदा करता है, परिच्छिन्न अहंकार पैदा करता है, परिच्छिन्न ज्ञान पैदा करता है। इस शीशेमेंसे सच्चिदानन्दमयी सृष्टि उल्टी होकर प्रतिबिम्बित होती है। यह अविद्याका (Lense) शीशा हमारे अन्तःकरणमें लगा हुआ है। उसके कारण हम सत्को असत्, चेतनको जड और आनन्दको दुःखरूपसे देख रहे हैं। इस अविद्यारूपी (Lense) शीशेके कारण हममें पूर्णाहंताका अभाव है।

गीताके दसवें अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनके पूछनेपर अपनी पूर्णाहंताका प्रदर्शन कराया। प्रधान-प्रधान विभूतियोंको लेकर भगवान् कहने लगे—

'मैं समस्त भूतोंका आत्मा हूँ; उनका आदि, मध्य, अन्त भी मैं हूँ। मैं विष्णु, सूर्य, मरीचि, चन्द्रमा, सामवेद, इन्द्र, मन-ज्ञान-शक्ति, चेतनता, शंकर, कुबेर, अग्नि, सुमेरु, बृहस्पति, स्वामिकार्तिक, समुद्र, भृगु, ॐ, जप यज्ञ, हिमालय, पीपल, नारद, चित्ररथ, कपिल मुनि, उच्चैःश्रवा घोड़ा, ऐरावत हाथी, राजा, वज्र, कामधेनु, कामदेव, वासुकि, शेषनाग, वरुण, अर्यमा, यमराज, प्रह्लाद, काल, सिंह, गरुड़, वायु, राम, मगरमच्छ, गङ्गा, सृष्टियोंका आदि, मध्य, अन्त, ब्रह्मविद्या, ब्रह्मवाद, महाकाल, अक्षर, अकार, द्वन्द्व-समास, विराट्, मृत्यु, उद्भव, कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा, बृहत्साम, गायत्री, मार्गशीर्ष, वसन्त, जुआ, प्रभाव, विजय, निश्चय, सात्त्विक भाव, वासुदेव, अर्जुन, वेदव्यास, शुक्राचार्य, दण्ड, नीति, मौन और तत्त्वज्ञान हूँ। उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयका कारण हूँ।'

अन्तमें भगवान्ने कहा—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥
(गीता १०। ३९)

'जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ; क्योंकि ऐसा वह चर और अचर कोई भी भूत नहीं है जो मुझसे रहित हो—इसलिये सब कुछ मेरा ही स्वरूप है।'

इसके बाद ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनकी प्रार्थनापर दिव्यदृष्टि देकर उसे अपना अनन्त विराट्स्वरूप भी दिखा दिया।

भगवान्ने श्रीमद्भागवतके स्कन्ध ११ में भी उद्धवजीको ऐसा ही पूर्णाहंताका प्रदर्शन दिया। यह है भगवान्का पूर्ण अहम् जो कि ब्रह्मके तुरीय, आनन्द, विद्या, अविद्या चारों पादोंमें अभिव्यक्त होकर भी पूर्णका पूर्ण रहा। ईश्वरभाव ही पूर्णाहंताका भाव है, जिसमें प्रत्येक जड-चेतन वस्तुसे तादात्म्य-ज्ञान सहजमें प्रतिष्ठित है। जीवात्माको ऐसा तादात्म्य-ज्ञान प्राप्त करना है। यह ज्ञान तभी हो सकता है, जब जीवका परिच्छिन्न अहंकार ईश्वरके पूर्ण अपरिच्छिन्न अहंकारसे अभिन्न हो जाय। यही सायुज्य मोक्ष है। यही पूर्णाहंता है कि 'मैं ही सब कुछ हूँ।' इस पूर्णाहंताकी प्राप्ति भगवान्की कृपा बिना असम्भव है। ईश्वर-अनुग्रहपूर्वक विशेष अभ्याससे ही यह लभ्य है। यह पुरुषोत्तम-भाव—उपासना-रहस्य है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

भगवान् रमण महर्षि और आत्मोपासना

(लेखक—श्रीसुरेशप्रसादरायजी एम्० ए०)

भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि धर्मकी स्थापनाके लिये वे स्वयं अवतार लेते हैं। कलियुगमें धर्मकी विशेष रूपसे हानि होती है। अतः स्वभावतया ही भगवान्‌को इस युगमें एकाधिक बार स्वयं अंश, कला आदि रूपमें अवतरित होना पड़ता है। कलियुगमें अधर्मका अन्धकार अत्यन्त घनीभूत हो जाता है और इसे ईश्वरीय ज्योति ही छिन्न करनेमें समर्थ हो सकती है। इसीलिये विभिन्न संत-महात्माओंके रूपमें भगवान्‌ने अवतीर्ण होकर उस महान् परम्पराकी रक्षा की है, जिसे हम 'सनातन-धर्म' कहते हैं।

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दीका काल भारतके ही नहीं, वरं विश्वके जीवनमें संक्रमणका काल रहा है। विज्ञानके इस युगमें मानव प्रकृतिपर पूर्ण विजय प्राप्त करनेमें लगा है। पर जब वह शान्त क्षणोंमें अपनी प्रगतिका लेखा-जोखा करता है, तो उसे लगता है कि उससे शान्ति अभी भी अत्यन्त दूर है और तब उसपर निराशाकी काली छाया पड़ने लगती है। सम्भवतः इसीलिये इस संक्रमणकालमें भगवान्‌ने अनेक बार महान् संतोंके भावावतारके रूपमें प्रकट होकर आजके मानवके तिमिराच्छन्न पथको आलोक प्रदान किया है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, श्रीअरविन्द और भगवान् रमण उसी महान् परम्पराकी कड़ी हैं, जिसकी जड़ें भारतके स्वर्णिम अतीतके गहन स्तरोंतक व्याप्त हैं।

भगवान् रमणका जन्म २९ दिसम्बर १८७९ में मद्रास प्रान्तके छोटेसे कस्बे तिरुचुरीमें हुआ था। उनका बचपन साधारण बालकोंकी तरह ही बीता। परंतु जब वे सत्रहवें वर्षमें थे, तब उनके जीवनकी असाधारण घटना घटी। वे उस समय मदुरामें अपने मामाके घर रहते थे। एक दिन अकस्मात् उनके मनमें मृत्युका भय उत्पन्न हुआ, जैसा कि प्रायः बहुतोंके मनमें होता है। उस समय वे पूर्णतः स्वस्थ थे, फिर भी मृत्युकी भावना उनके मनमें अत्यन्त प्रबल हो उठी। उन्हें ऐसा लगा कि वे मरने जा रहे हैं। मृत्युके भयने उनके मनको अन्तर्मुखी बना दिया। वे अपने आपसे पूछने लगे कि 'मृत्युसे किसका अन्त होता है?' और उन्हें लगा कि मृत्युसे केवल शरीर ही जडवत् हो जाता है। उन्होंने तुरंत इसे नाटकीय रूप दिया। वे मुर्देकी तरह निश्चेष्ट होकर पड़ गये। तब उन्होंने सोचा कि 'उनका शरीर जड है और उसे श्मशानमें जला दिया जायगा। पर क्या शरीरके साथ ही उनका अन्त हो जायगा? क्या वे शरीर ही हैं? शरीर वास्तवमें जड और निष्क्रिय हो गया है, पर उसके भीतरकी शक्ति ज्यों-की-त्यों है। और उन्होंने अनुभव किया कि 'वे शरीर नहीं, आत्मा हैं, जो प्रकाशपूर्ण, निर्विकार और अजन्मा है।' यह सोचते ही वे पूर्णतः आत्मस्थ हो गये। जीवनभर वे इस अवस्थासे एक क्षणके लिये भी च्युत नहीं हुए।

आत्मानुभवके बाद रमण तिरुवन्नमलाई चले आये। वहाँका शिवमन्दिर अत्यन्त प्रसिद्ध है। शहरके समीप ही अरुणाचल पहाड़ है, जो पुराणोंमें अत्यन्त पवित्र माना गया है। उसे शिवरूप कहा गया है। बादमें रमणने इस पवित्र पर्वतकी गुफाओंमें वर्षों निवास किया। पर धीरे-धीरे उनकी ख्याति फैलती गयी। पहले तो मद्रासके लोग ही उनके दर्शनोंका लाभ उठाते थे, पर शीघ्र ही सुदूर देशोंके लोग भारी संख्यामें भारतके इस महान् पुत्रकी संनिधिमें शान्ति प्राप्त करनेके लिये आने लगे। रमणाश्रमका निर्माण हुआ। महर्षि स्वयं १४ अप्रैल १९५०में महानिर्वाणको प्राप्त हुए, पर रमणाश्रम आज आधुनिक भारतका पावन तीर्थ बना हुआ है। संसारके अनेक भागोंसे अभी भी लोग भगवान् रमणकी तपःस्थलीके दर्शनको आते हैं और असीम शान्ति प्राप्तकर अपनेको कृतकृत्य अनुभव करते हैं।

भगवान् रमणने जिस साधनापद्धतिका प्रचार किया, वह आधुनिक युगके लिये उनकी बहुत बड़ी देन है। यह पद्धति अनेक गुणोंसे समन्वित है और अत्यन्त मौलिकता-पूर्ण है। सबसे पहले तो यह कह देना आवश्यक है कि भगवान् रमण ज्ञानी थे और उन्होंने उसी मार्गका प्रचार किया। ज्ञानमार्गका भारतकी साधना-पद्धतियोंमें अपना स्थान है। उपनिषदोंसे लेकर गौड़पादाचार्य और शंकर तक इस मार्गकी परम्पराका अनुभव होता है। बादमें यह मार्ग दुरूह बनकर रह गया। जहाँ एक ओर इस मार्गका सैद्धान्तिक पक्ष अत्यन्त परिपुष्ट होता रहा, वहाँ इसके

व्यावहारिक या अभ्यास-सम्बन्धी रूपका तो प्रायः लोप-सा ही हो गया। ज्ञानमार्ग इसीलिये अत्यन्त कठिन माना जाने लगा। यह उचित भी था। केवल सिद्धान्तके द्वारा तो साधनाके क्षेत्रमें विशेष प्रगति हो नहीं सकती। रमण महर्षिकी महानता इस बातमें संनिहित है कि उन्होंने ज्ञान-प्राप्तिको वास्तविक साधनामें केन्द्रित किया। उन्होंने अपने जीवन और उपदेशोंके द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि ज्ञानमार्गमें अभ्यासका उतना ही महत्त्व है, जितना अन्यान्य मार्गोंमें। और यह अभ्यासकी प्रक्रिया अन्यान्य मार्गोंकी प्रक्रियाओंसे कहीं सरल और स्पष्ट है।

भगवान्ने जिस पद्धतिका उपदेश दिया, उसके बारेमें किसी भी तरहकी रहस्यात्मकताको उन्होंने कभी भी प्रश्रय नहीं दिया। वे इसके सम्बन्धमें इतना अधिक स्पष्ट थे कि कई बार उन्होंने जिज्ञासुओंको अपनी पुस्तकोंको पढ़कर ज्ञान-पद्धतिको समझनेका आदेश दिया। दीक्षा वे भी देते थे, पर यहाँ भी उनकी पद्धति अत्यन्त मौलिक थी। उनकी दीक्षा मौन दीक्षा थी। जो कोई भी उनके सम्मुख श्रद्धाभावसे जाता था, वह दीक्षित हो जाता था। इतना ही नहीं, कोई श्रद्धावान् बिना देखे ही उनका गुरुभावसे स्मरण करता था, वह भी उनकी दीक्षा प्राप्त कर लेता था। यह बात उनके महानिर्वाणके बाद भी सत्य है। अभी भी अपनेमें श्रद्धाभाव रखनेवाले प्राणियोंको भगवान् शान्ति प्रदान करते हैं। बात कुछ अद्भुत-सी लगती है। पर सद्गुरुके लिये सब कुछ सम्भव है। वह तो सर्वव्याप्त, सबके हृदय-मन्दिरमें आसीन होता है। फिर स्मरणमात्रसे यदि जीवनमें छा जाता है, तो इसमें आश्चर्य या शङ्काके लिये कहाँ स्थान रह जाता है?

भगवान्ने विचारका उपदेश दिया। उनके अनुसार साधकको शान्तमन होकर स्वयंसे प्रश्न करना चाहिये कि 'मैं कौन हूँ?' इस प्रश्नको उचितरूपमें पूछनेपर वह अपने अस्तित्वकी अतल गहराइयोंमें प्रवेश पा लेगा और तब उसके लिये कुछ जानना शेष नहीं रह जायगा।

'मैं कौन हूँ?'—इसी छोटे वाक्यमें भगवान् रमणकी आत्मोपासनाका रहस्य छिपा हुआ है। अब देखना है कि उन्होंने इस छोटेसे वाक्यको साधनाका आदि-अन्त क्यों माना? सम्पूर्ण सृष्टि 'मैं'—अहंभावसे परिव्याप्त है। हम बराबर इस 'मैं'के प्रति जागरूक बने रहते हैं। हम कुछ भी करते या सोचते हों, 'मैं' बराबर हमारी चेतनाका केन्द्र बना रहता है। पुनश्च प्राणीकी प्रथम भावना 'मैं' ही है। उसीके उत्सरणके पश्चात् 'तुम', 'वह' इत्यादि पैदा होते हैं। जिस तरह 'मैं' प्रथम भाव है, उसी तरह यह अन्तिम भाव भी है। यही असीमको ससीम बनाये हुए है। अतः इसके नष्ट होते ही ससीम असीम बन जाता है।

आखिर यह 'मैं' क्या है? यही अहंभाव है। इसे ही 'मन' कहते हैं। यही विचारोंका मूलस्रोत है। इसीसे विश्व प्रकट होता है। यह बात कुछ बेतुकी-सी लगती है, पर यह सत्य है कि मनसे ही संसार प्रकट होता है। यदि मन न रहे तो दृश्यका पूर्ण अभाव हो जायगा। हम प्रतिदिन इसका अनुभव करते हैं। उदाहरणतः—जब हम प्रगाढ़ निद्रामें मग्न होते हैं, उस समय हमारे लिये सृष्टिका कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। इसका कारण यह है कि उस अवस्थामें मन आत्मामें मिलकर लुप्त हो जाता है। फिर जब हम जागते हैं, तो वह ऊपर आकर पुनः सृष्टि कर लेता है। उसी तरह स्वप्नकी अवस्थामें शरीरके शान्त हो जानेपर भी मन शान्त नहीं होता और उस अवस्थामें भी वह संसारकी सृष्टि कर लेता है। इस तरह जाग्रत् और स्वप्न—दोनों संसार एक ही तरहके हैं; क्योंकि दोनों ही मनके परिणाम हैं। इसीलिये जबतक मनोनाश नहीं होता, मूलतत्त्वका ज्ञान असम्भव है।

'मैं'—मन कहाँसे पैदा होता है? भगवान्ने अनुभवसे यह जाना कि यह आत्मासे ही पैदा होता है और यथार्थमें इसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। जिस तरह चन्द्रमा सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशमान होता है, उसी तरह मनका कारण आत्मा ही है। चेतनके जडके सम्पर्कमें आनेपर जो विकार पैदा होता है, वही 'मन' कहलाता है। चूँकि 'मैं' या मन आत्मासे ही पैदा हुआ है, इसीलिये 'मैं'की रस्सीको पकड़कर आत्मामें डूबा जा सकता है। यही 'मैं' आत्माके ऊपर पर्दा डाले हुए है। जब 'मैं कौन हूँ?' इस आत्मविचारके द्वारा हम इस पर्देको फाड़ देते हैं, तो आत्माके प्रकाशमें 'मैं' डूब जाता है और फिर कुछ करना या जानना शेष नहीं रह जाता।

सभी साधना-पद्धतियाँ मनोनाशपर ही जोर देती हैं। जबतक मनका नाश नहीं होता, मुक्ति असम्भव है। और

इसी मनोनाशके लिये भगवान्ने अत्यन्त सुन्दर मार्ग प्रस्तुत किया—'मैं कौन हूँ'। जब हम स्वयंसे यह प्रश्न पूछते हैं, तो विचित्र प्रकारकी संवेदनाका अनुभव होता है। लगता है कि विश्वको समझनेका हमारा विचार दम्भमात्र था। 'मैं'को समझे बिना अन्योंको कैसे समझा जा सकता है? 'मैं' क्या है, कहाँसे उत्पन्न होता है? यदि किसीसे यह प्रश्न किया जाय, तो वह अपने शरीरकी ओर संकेत करेगा। सचमुच अधिकांश लोग शरीरको ही 'मैं' समझ बैठे हैं। इसे ही देहात्मबुद्धि कहा गया है। पर क्या शरीर 'मैं' है? कुछ विचार करनेपर लगता है कि शरीर 'मैं' नहीं है। शरीर तो घटता-बढ़ता रहता है और अन्तमें निष्प्राण हो जाता है। पर 'मैं'का अनुभव तो अनन्तकालसे चला आ रहा है। इसका अर्थ है कि शरीर 'मैं' नहीं है। शरीरके बाद मनको लें। क्या 'मैं' मन है? विचारोंके प्रवाहको ही मोटे तौरपर 'मन' कहा जाता है। पर क्या 'मैं' विचार है? 'मैं' तो सभी विचारोंका जनक—नियन्ता है। अतः इसे मन भी नहीं कहा जा सकता। यह बात पूर्णतः हृदयंगम कर लेनेके बाद कि 'मैं' न शरीर है, न मन,—वास्तविक साधना प्रारम्भ होती है। अब प्रश्न उठता है कि शरीर और मनके समाप्त हो जानेके बाद जो यह 'मैं' बच गया, वह क्या है? सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर वह भी मनका ही अन्तिम रूप है। अहर्निश 'मैं कौन हूँ?' पूछते रहनेपर यह 'मैं' भी लुप्त हो जाता है और तब अकस्मात् आत्माका प्रकाश साधकमें भासित हो उठता है। उस समय जिस 'मैं'की अनुभूति होती है, वह सच्चिदानन्दरूप और मूर्त्त-अमूर्त्त सबके परे होता है। वही 'ब्रह्म' है। यही साधनाकी चरम परिणति है।

अब प्रश्न उठता है कि शरीरमें आत्माकी स्थिति कहाँ है। वैसे तो आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, फिर भी शरीर-भावके रहनेतक उसके लिये किसी स्थानको इङ्गित करना उचित ही है। भगवान्ने अनुभव किया कि हृदयमें वक्षके मध्यबिन्दुसे कुछ दाहिनी ओर आत्मा स्थित है। भगवान्ने हृदयके लिये जिस स्थानका संकेत किया, वह यौगिक चक्रोंके तरहकी कोई चीज नहीं है और न उसका कोई रंग या आकार-प्रकार ही है। ब्रह्मसूत्र और अन्य प्राचीन ग्रन्थोंमें भी हृदयको ही आत्माका वास माना गया है। भगवान्का कहना था कि जब हम स्वयंको निर्दिष्ट करनेके लिये कोई संकेत करते हैं, तो हमारी अंगुली वक्षकी दाहिनी ओर अपने-आप उठ जाती है। इससे भी सिद्ध होता है कि वहीं हमारे अस्तित्वका मूलबिन्दु अवस्थित है।

इस साधना-पद्धतिमें किसी भी प्रकारकी विचार-प्रक्रियाओंके लिये कोई स्थान नहीं है। बहुत-से लोग 'सोऽहं' या 'अहं ब्रह्मास्मि' का जप करते हैं। यहाँ इस प्रकारके जपको स्थान नहीं दिया गया है। भगवान्का कहना था कि 'सोऽहं' या 'अहं ब्रह्मास्मि' तो 'ब्राह्मी स्थिति'का नाम है। जबतक वह स्थिति प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक इस प्रकारके जपसे विशेष लाभकी सम्भावना नहीं। पर इस प्रकारके जपसे एक बात जरूर होती है। साधककी मनोदशामें थोड़ा-बहुत परिवर्तन हो जाता है। भगवान्की पद्धतिकी नवीनता इस तरह स्पष्ट हो जाती है। ज्ञानमार्गमें पहले महावाक्योंके जपको ही सर्वोपरि स्थान प्राप्त था। भगवान्ने इसके पूर्वकी साधना-पद्धतिको हमारे सामने रक्खा। इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने कोई नयी बात कह दी। उन्होंने जिस पद्धतिका उपदेश दिया, उसका उल्लेख अद्वैतविषयक बहुत-से ग्रन्थोंमें है। उदाहरणतः योगवासिष्ठमें कहा गया है कि 'मैं कौन हूँ' के विचारसे ब्रह्मका अनुभव होता है। पर बादमें यह अभ्यासयोग एकदम विलुप्त-सा हो गया। भगवान्ने इसे एक बार पुनः सामने रखकर शुष्क ज्ञानमार्गको अत्यन्त सरस बना दिया।

अन्तमें भगवान्के अनुसार साधकको किसी भी आसनमें बैठकर साधना प्रारम्भ करनी चाहिये। वह अपने ध्यानको छातीकी दाहिनी ओर हृदयमें केन्द्रित करे और स्वयंसे यह प्रश्न पूछे—'मैं कौन हूँ?' प्रश्न-वाक्यके जपसे यहाँ तात्पर्य नहीं है। सम्पूर्ण ध्यानको इस 'मैं' पर केन्द्रित कर देना चाहिये और एक क्षणके लिये भी उसे वहाँसे नहीं हटने देना चाहिये। यदि कोई दूसरा विचार उठता है, तो उसे पूछना चाहिये—'यह विचार किसे हो रहा है? मुझे हो रहा है? 'मैं कौन हूँ?' इस तरह 'मैं कौन हूँ?' के तारको कभी टूटने नहीं देना चाहिये। प्रथम प्रयासमें ही साधकको यह मालूम होने लगेगा कि इस प्रक्रियासे उसके अन्तर्मनके हर स्तरपर कितना जोर पड़ता है। जब अभ्यास अत्यन्त दृढ़ हो जाय, तो खाते-सोते, उठते-बैठते हर घड़ी 'मैं कौन हूँ?' का ध्यान करना चाहिये। धीरे-धीरे सारी विकृतियोंके समाप्त होनेपर मन शुद्ध होकर ब्रह्ममें ही, जहाँसे वह निकला है, लीन हो जायगा। इसे ही 'विदेह

स्थिति' कहते हैं। ऐसे ही महात्माओंको 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है। प्राचीन कालमें जनक, याज्ञवल्क्य, अष्टावक्र, वसिष्ठ, दत्तात्रेय आदि इसी प्रकारके महापुरुष थे। आधुनिक कालमें भी रामकृष्ण परमहंस और रमण महर्षि उसी विदेह स्थितिके उदाहरण हैं।

भगवान् रमणने अद्वैतका प्रचार किया। पर इसका यह अर्थ नहीं कि वे अन्य साधना-पद्धतियोंके विरोधी थे। उन्होंने जप-प्राणायामादिकी भी अत्यन्त प्रशंसा की है। उनके अनुसार अपनी मानसिक धाराके अनुरूप विभिन्न साधक विभिन्न पद्धतियोंको अपनाकर ब्रह्मको प्राप्त कर सकते हैं। उन्होंने स्वयं अनुभव किया कि ज्ञानमार्गमें अग्रसर होना उन्हींके लिये सम्भव है जिनका मन अनेक जन्मोंकी साधनाओंसे शुद्ध हो गया है। पर कोई एकाग्र मनसे उनके द्वारा निर्दिष्ट साधनाका अभ्यास करे, तो इसी जन्ममें ब्रह्मको प्राप्त हो सकता है; क्योंकि ब्रह्म-तत्त्व तो उसमें वर्तमान है ही, आवश्यकता केवल इतनी ही है कि साधनाके द्वारा मिथ्या-ज्ञानको नष्ट कर दिया जाय—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(गीता १८।६१)

वह तो हृद्देशमें स्थित है ही। उससे अलग हम हैं ही क्या! भगवान् रमणद्वारा निर्दिष्ट पद्धतिसे हृद्देशस्थित परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है, इसमें संदेह नहीं।

खेचरीमुद्राकी साधना

(लेखक—उदासीन स्वामीजी श्रीकृपाल्वानन्दजी)

[उपासना-अङ्क पृष्ठ ४९६ से आगे]

मैं प्रारम्भमें प्रतिदिन चार बैठकमें कुल चार घंटे उपासना करता था। एक मास पश्चात् मैंने दो घंटे और बढ़ा दिये। मन ऐसा लग गया था कि उपासनाखण्डसे बाहर निकलनेकी इच्छा ही न होती थी। अनुभव भी ऐसे विलक्षण होते थे कि उनके चिन्तनमें ही सारा दिन समाप्त हो जाता था। अन्य चिन्तनके लिये अवसर ही नहीं मिलता था। रातमें योग-साधनाके ही स्वप्न आते थे। मानो मेरे लिये दिन-रातमें कोई अन्तर ही नहीं रह गया था। जनसंसर्ग अप्रिय प्रतीत होता था, एकान्त अतिप्रिय लग रहा था और अन्य प्रवृत्तियोंसे मैं शीघ्र असंतुष्ट हो उठता था। तीसरे मासमें मेरी उपासना कुल आठ घंटे और चौथे मासमें कुल दस घंटेतक पहुँच गयी। उस समय मुझे एक अनुभव हुआ, जो खेचरीमुद्रा-विषयक प्रथम अनुभव था। वह एक योगरहस्य होनेके कारण उसको सभी योगाचार्योंने गोपनीय माना है। संत श्रीचरणदासजी महाराजने 'भक्तिसागर' में कहा है—

भेद गुरु से यं लहै और छिपावै वाहि।
जो-जो फल याके अधिक होय परापति ताहि॥

'शिवसंहिता'में भगवान् शिवजीका वचन है—

सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मिन् कस्मिन् न दीयते।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते॥
(४।३७)

'हे सुरपूजिते पार्वती! यह खेचरीमुद्रा प्राणके समान है। इसको अनधिकारीको देना उचित नहीं है। यह मुद्रा प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखने योग्य है।'

आजके विज्ञानयुगको देखकर मैं उस रहस्यका उद्घाटन करनेका साहस तो करता हूँ, फिर भी अन्तःकरणमें संकोच तो होता ही है। मैं पद्मासन लगाकर ध्यानका अभ्यास कर रहा था। सहसा रसनाके निम्नभागमें, जहाँ शिराबन्ध है, वहाँ वेगपूर्वक खाज आने लगी। मैंने मुँह खोलकर दाहिने हाथके अंगूठेसे उस स्थानको रगड़ना शुरू किया। खाज अति प्रबल हो उठी थी; अतः अंगूठेका नाखून बलपूर्वक दबा दिया। पंद्रह-बीस दिनका बढ़ा हुआ नाखून शिराबन्धके बीच गड़ गया और उसने शिराबन्धको काट ही दिया। केवल दो ही मिनटमें यह कार्य समाप्त हुआ। उस समयपर्यन्त मैंने किसी भी योगग्रन्थको पढ़ा नहीं था। इतना ही नहीं, मैंने खेचरीमुद्राका नामतक नहीं सुना था। श्रीगुरुदेवने भी इस विषयकी कभी चर्चा नहीं की थी। हाँ, इतना कहा था, कभी-कभी उपासनामें उपद्रव उपस्थित होते हैं; श्रीहरि मेरे संरक्षक हैं, ऐसा

मानकर इनसे डरना नहीं चाहिये। मैंने समझा, यह सब उपद्रव ही है। आश्रममें दर्पण था। मैंने उसमें देखा तो पता चला कि शिराबन्ध कट गया है। थोड़ी देर रुधिर बहता रहा। तदनन्तर मैंने जलसे मुख प्रक्षालन कर लिया और श्रीहरिका स्मरण करके पुनः मनको ध्यानमें लगा दिया। वह दिन बीत गया। दूसरे दिन ध्यानमें बैठा तो मुँहमें तर्जनी घुस गयी और कटे हुए भागको घिसने लगी। यह क्या हो रहा है, वह मैं समझ नहीं पाया। इस प्रकार यह क्रम महीनोंतक चलता रहा। उसके साथ चालन-दोहन भी होता रहा। मैंने सोचा, यह कोई प्राकृतिक क्रिया, योगमाया अथवा भगवान्की लीला ही है। महासमर्थ श्रीसद्गुरुदेवकी रक्षा है, फिर भय किस बातका ? मैं निर्भय हो गया।

यह घटना छः महीने पुरानी हो गयी। अचानक मेरे हाथोंमें श्रीवेंकटेश्वरप्रेसका सूचीपत्र आया। उसमें मैंने योगविषयक ग्रन्थोंकी नामावली देखी और मैंने तत्काल पत्रद्वारा आदेश दे दिया। थोड़े ही दिनोंमें मुझे शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, गोरक्षपद्धति, हठयोगप्रदीपिका इत्यादि कई योगग्रन्थ देखनेका सौभाग्य सम्प्राप्त हुआ। मैंने चटपट उनका अध्ययन भी शुरू कर दिया। मेरे योगानुभवोंको योगशास्त्रमें यथावत् वर्णित देखकर मेरा चित्त प्रसन्नतासे परिपूर्ण हो उठा और मेरा उत्साह प्रबल हो गया। मेरे लिये श्रीसद्गुरुदेवका प्रत्येक वाक्य वेदवाक्य बन गया।

तीन वर्ष व्यतीत हो गये। इनमें ध्यानके समय जिह्वाका चालन एवं दोहन नियमित रूपसे होता रहा और जिह्वा ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश पानेके लिये निरन्तर प्रयत्न करती रही। योगशास्त्रोंके अध्ययनसे यह तो अवगत हो ही गया था कि शरीरमें ध्यानोपयुक्त नौ स्थान हैं—

> गुदं मेढ्रं च नाभिश्च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः।
> घण्टिका लम्बिकास्थानं भ्रूमध्ये च नभोबिलम्॥
>
> (गोरक्षपद्धति २।७५)

'१—गुदा (मूलाधारचक्र), २—लिङ्ग (स्वाधिष्ठान-चक्र), ३—नाभि (मणिपूर चक्र), ४—हृत्पद्म (अनाहत-चक्र), ५—तदूर्ध्व (विशुद्धाख्यचक्र, जिह्वाका स्थान इस चक्रकी सीमामें है।), ६—घण्टिका-घाँटी-लम्बिका (Uvula), ७—लम्बिकाका स्थान (ब्रह्मरन्ध्र-व्योमचक्र), ८—भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र या भ्रुकुटीचक्र), ९—उसके ऊपरका अवकाश (सहस्रदलचक्र)।

विक्रम सं० २००९ के मार्गशीर्षकी पूर्णिमाके दिन जिह्वाका उद्योग सफल हो गया। वह ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश पा गयी। उसकी बाधा सदाके लिये तिरोहित हो गयी। जिह्वाके शिराबन्धका छेदन खेचरी-सिद्धिका प्रथम सोपान, जिह्वाका चालन-दोहन दूसरा सोपान और उसका ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश यह तीसरा सोपान है। इन तीनों सोपानोंका उत्क्रमण करनेपर भी खेचरीकी साधना समाप्त नहीं होती; क्योंकि इनके अवान्तर दूसरे दो सोपान हैं। इनमेंसे पहिला सोपान प्राणापानकी प्रबलता और उनकी ब्रह्मरन्ध्रमें स्थिरता तथा दूसरा सोपान जिह्वाका ब्रह्मरन्ध्रमें अधिक समय ठहरना और दृष्टिका भ्रूमध्यमें अधिक समय टिकना है। जबतक साधक मुनिवर शुकदेवके समान दिव्य शरीरकी सम्प्राप्ति करके ऊर्ध्वरेता नहीं बनता, तबतक वह सिद्ध संज्ञाका अधिकारी नहीं बन सकता। पराभक्तिके अवलम्बनसे ही निर्बीज समाधि सिद्ध होती है, ऋतम्भरा प्रज्ञाकी प्राप्ति होती है और स्थितप्रज्ञताका लाभ होता है।*

> * पीड्यते न च शोकेन न च लिप्येत कर्मणा।
> बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥
>
> (गोरक्षपद्धति १।६५)

'खेचरीमुद्रा सिद्ध करके ऊर्ध्वरेता बननेवाला तथा जरा-मरणसे विमुक्त होनेवाला अवधूत योगी शोकसे पीड़ित नहीं होता। वह अनासक्त होकर कर्मयोगका आचरण करता रहता है; अतः कर्मोंसे बँधता नहीं और किसीसे भी बाधा नहीं पाता।'

> जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
> ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
>
> (श्रीमद्भगवद्गीता ७।२९)

'जो मेरे शरण होकर जरा-मरणसे विमुक्त होनेके लिये आयास करते हैं, वे उस ब्रह्मको तथा सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जानते हैं।'

श्वेताश्वतर उपनिषद् (२।१२) में सत्य ही कहा है—'न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः। प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥ जिस योगीने योगाग्निमय दिव्य शरीर प्राप्त कर लिया है, उसको न रोग होता है, न वृद्धावस्था प्राप्त होती है और न उसकी मृत्यु ही होती है।'

ब्रह्मरन्ध्रका ध्यान, उसकी महिमा और खेचरी-मुद्राकी फलश्रुति

ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्त्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥
(शिवसंहिता ५ । १४१)

'खेचरीमुद्रा लगाकर ध्यान करनेवाला योगी यदि ब्रह्मरन्ध्रमें मन देकर उसको वहाँ क्षणार्ध भी स्थिर रखता है, तो वह सर्वपापोंसे विमुक्त होकर परम गतिको प्राप्त होता है ।'

अस्मिंल्लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते ।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ॥
(शिवसंहिता ५ । १४२)

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ८ । १०)

'जो भक्तियुक्त योगी प्रयाणकालमें (यह प्रयाणकाल समाधिका है, जिसमें योगी पुराना शरीर छोड़कर योगाग्निमय दिव्य शरीर पाता है—मृत्युको लाँघ जाता है ।) निश्चल मनसे योगबल-द्वारा भ्रुकुटीके मध्यमें प्राणको स्थिर करके स्मरण करता है, वह उस दिव्य परमपुरुष परमात्माको प्राप्त होता है ।'

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ८ । २८)

'योगी इस उत्तरायण और दक्षिणायनके रहस्यको अनुभवसे जानकर वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिके करनेमें जो पुण्यफल कहा है उन सबको अवश्य ही लाँघ जाता है और सनातन परमपदको प्राप्त होता है ।'

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ३ । ३९-४०)

'हे अर्जुन ! इस अग्नि-सदृश अतृप्त कामरूप ज्ञानियोंके नित्य शत्रुसे ज्ञान ढका हुआ है । इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके निवासस्थान कहे जाते हैं । यह काम इनके द्वारा ज्ञानको आच्छादित करके जीवात्माको मोहित करता है ।'

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ३ । ४३)

'इस प्रकार बुद्धिसे अति सूक्ष्म, सर्वशक्तिमान् और सर्वोत्तम आत्माको जानकर और आत्मशक्तिसे वीर्यको रोककर, हे महाबाहो ! दुर्जय कामरूप शत्रुको मार ।'

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ४ । ३)

'वही यह पुरातन निष्कामकर्मयोग मैंने आज तुझसे कहा; क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय मित्र है तथा यह योग भी उत्तम रहस्य है ।'

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५ । २३)

'जो शरीरके नाश होनेके पूर्व ही काम और क्रोधसे उत्पन्न वेगको सहन करनेमें समर्थ होता है अर्थात् इनको सदैवके लिये जीत लेता है, वही मनुष्य योगी है और वही सुखी ।'

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५ । २६-२८)

'काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परमात्माका साक्षात्कार किये हुए योगी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परमात्मा ही प्राप्त है । बाहरके विषयोंको बाहर ही त्यागकर और दृष्टि भ्रूमध्यमें स्थिर करके तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण-अपान वायुको सम करके इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिको जीतनेवाला और इच्छा, भय एवं क्रोधसे रहित जो मुनि है, वह सदा मुक्त ही है ।'

'इस ब्रह्मरन्ध्रमें जिसका मन लीन होता है, वह पुरुषोत्तम योगी अणिमादि गुणोंको भोगकर स्वेच्छासे मुझमें लीन होता है।'

> एतद् रन्ध्रज्ञानमात्रेण मर्त्यः
> संसारेऽस्मिन् वल्लभो मे भवेत् सः।
> पापान् जित्वा मुक्तिमार्गाधिकारी
> ज्ञानं दत्त्वा तारयेदद्भुतं वै॥
> (शिवसंहिता ५ । १४३)

'इस संसारमें केवल इस ब्रह्मरन्ध्रके ज्ञानमात्रसे योगी मेरा प्रिय बन जाता है और पापराशिको जीतकर वह मुक्तिमार्गका अधिकारी बनता है। तदुपरान्त असंख्य अधिकारियोंको ज्ञान प्रदान करके उनका उद्धार करता है।'

यहाँ एक बात स्मरणीय है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें जहाँ-जहाँ भ्रूमध्यके ध्यानका निर्देश किया है, वहाँ-वहाँ उसका आरम्भ ब्रह्मरन्ध्र (कपालकुहर) से ही होता है, यह मान लेना चाहिये। केवल भ्रूमध्य-दृष्टिसे भी प्राणापान सहस्रदलपद्ममें पहुँच जाते हैं और अमृतलाभ तथा समाधि-लाभ भी होता है, यह सत्य है; किंतु वह समाधि दक्षिणायनकी है। इसमें तीनों ग्रन्थियोंका भेद नहीं होता, जिसके कारण कालान्तरमें अपान वायु नीचे उतरता है और योगीको भोगकी ओर आकृष्ट करता है। उसीके लिये भगवान्ने कहा है—

> ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
> क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥
> (श्रीमद्भगवद्गीता ९ । २१)

'वे सकाम कर्मोंको करनेवाले उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं।'

'कठोपनिषद्'में कहा है—

> शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
> स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
> तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
> विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥
> (२ । ३ । १६)

'पुरुषके हृदयसे सौ अन्य और सुषुम्णा नामकी एक—इस प्रकार एक सौ एक नाडियाँ निकली हैं। उनमेंसे एक सुषुम्णा नाडी मूर्धाका भेदन करके बाहरको निकली हुई है। उसका अवलम्बन लेकर सहस्रदलपद्मकी ओर गमन करनेवाला योगी अमरत्वको प्राप्त होता है। (यही उत्तरायणका मार्ग है।) शेष विभिन्न गतियुक्त नाडियाँ मृत्युका कारण होती हैं।'

आकाशकी ओर दृष्टि लगाना अर्थात् भ्रूमध्यका ध्यान करना, उसे ही कई योगी राजयोगकी खेचरी कहते हैं। वे कहते हैं—खेचरीका अर्थ है—'खे चरति प्राणः।' यह सत्य ही है; किंतु इस प्रकारके अभ्याससे साधक उत्तम ब्रह्मचारी बन सकता है, पर ऊर्ध्वरेता नहीं बन पाता। खेचरीमुद्रासे ही योगी ऊर्ध्वरेता बन पाता है। यह मुद्रा केवल आत्मनिक्षेपद्वारा ही सिद्ध होती है। प्रपत्तिके साधकको सुदृढ़ निश्चय होता है—'रक्षिष्यतीति विश्वासः।'—भगवान् ही मेरी संरक्षा करेंगे।

सामान्य योग ऐसे होते हैं जो छः मास, वर्ष, तीन वर्ष या छः वर्षकी अवधिमें सिद्ध हो जाते हैं; किंतु परमात्मप्राप्तिका योग इतना सरल नहीं, जो अल्पावधिमें सिद्ध हो जाय। यदि वह सरल ही होता तो हमारे पूर्वजोंको हजारों वर्षोंतक तपश्चर्या क्यों करनी पड़ती? हाँ, यह मान लेते हैं कि प्रत्येक योगीके लिये कालमर्यादा एक समान नहीं हो सकती।

ब्रह्मरन्ध्रका ध्यान खेचरीमुद्रासे सम्बन्धित है। जब जिह्वा ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश करती है, प्राणापान विषमताका परित्याग करके समता धारण करते हैं और दृष्टि भ्रूमध्यमें स्थिर हो जाती है, तभी ब्रह्मरन्ध्रका ध्यान पूर्णता प्राप्त करता है। जैसे मूलबन्धमुद्रा करनेसे मूलाधारचक्रका और शाम्भवीमुद्रा करनेसे स्वाधिष्ठानचक्रका स्वाभाविक ध्यान होता है, वैसे ही खेचरी-मुद्रा करनेसे ब्रह्मरन्ध्रका स्वाभाविक ध्यान होता है। बिना खेचरीमुद्राके ब्रह्मरन्ध्रका ध्यान अपूर्ण ही रहता है। भगवान् शिवजीने 'शिवसंहिता'में कहा है—

> सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया।
> निरन्तरकृताभ्यासात् पीयूषं प्रत्यहं पिबेत्।
> तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी॥
> (४ । ३२)

'यह खेचरीमुद्रा सर्वसिद्धिकी माता है और मुझे प्राणसे भी अधिक प्रिय है। जो निष्कामयोगी निरन्तर इस अभ्याससे नित्य अमृतपान करता है, वह उस कारणसे योगाग्निमय

दिव्य शरीरको प्राप्त करता है। यह खेचरीमुद्रारूपी सिंह मृत्युरूपी हस्तीका हन्ता है।'

'हठयोगप्रदीपिका'में कहा है—

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम्।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने॥

'इडा, पिंगला, सुषुम्णा, गान्धारी और हस्तिजिह्वा—इन पाँचों नाडियोंके स्रोतसे समन्वित इस ज्ञानजनक ब्रह्मरन्ध्रका ध्यान करके योगी परमात्मसाक्षात्कार कर लेता है। उस निरञ्जन और शून्यरूप स्थानमें खेचरीमुद्रा स्थिर होती है।'

वर्षोंतक वेदान्तका परिशीलन करनेपर भी ऋतम्भरा-प्रज्ञाकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके लिये ध्यानयोगका ही आश्रय लेना पड़ता है। जब मन ब्रह्मरन्ध्रमें विलीन हो जाता है, तभी आत्मज्ञान होता है, यानी ऋतम्भरा-प्रज्ञाकी प्राप्ति होती है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १०। १०-११)

'उन सततयुक्त और प्रेमपूर्वक उपासना करनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको प्राप्त होते हैं। उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही मैं स्वयं आत्मभावस्थ अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको दीप्तिमान् ज्ञानदीपद्वारा नष्ट करता हूँ।' भगवान् प्रपत्तियोगके उपासकको बुद्धियोग प्रदान करते हैं अर्थात् ऋतम्भरा-प्रज्ञा प्रदान करते हैं। यही ऋतम्भरा-प्रज्ञा ही ज्ञानदीप है। भगवान्ने निष्कामी भक्तको ही ज्ञानी एवं योगी कहा है। 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।' (७। १७) उन चार प्रकारके उपासकोंमें भी नित्ययुक्त अनन्यप्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी ही उत्तम है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ६। ४७)

'समस्त योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे उपासता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

'घेरण्डसंहिता'में खेचरीमुद्राकी फलश्रुति इस प्रकार है—

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते॥

(३। २९)

'जो योगी खेचरीमुद्राद्वारा निर्बीज समाधि सिद्ध करता है, वह मूर्च्छा, क्षुधा, पिपासा, आलस्य, रोग, वृद्धावस्था और मृत्युसे रहित हो जाता है और उसको दिव्य देहकी प्राप्ति होती है। ऊर्ध्वरेता योगीकी दिव्य देहको देखकर उसे सहजमें ही पहचाना जा सकता है।

नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः॥

(घेरण्ड० ३। २७)

'उस दिव्यदेह-प्राप्त योगीके गात्रोंको अग्नि जला नहीं सकती, वायु सुखा नहीं सकता, जल गीला नहीं कर सकता और उसको सर्प काट नहीं सकता।'

ऊर्ध्वरेता बनना, यही परमपदकी प्राप्तिका उपाय है

उपासक ज्ञानमार्गी हो, योगमार्गी हो अथवा भक्तिमार्गी हो; किंतु उसको राजयोगके प्रथम सोपान 'धारणा'का आश्रय लेना ही पड़ेगा। धारणाका परिणाम ध्यान और ध्यानका परिणाम निर्बीज समाधि या निर्विकल्प समाधि ही है। साधक जबतक अभिलषित योगके साधनद्वारा 'प्रत्याहार' सिद्ध नहीं करेगा, तबतक वह इस राजयोगका अनधिकारी ही माना जायगा। प्रत्याहार सिद्ध हो जानेसे इन्द्रियाँ वशवर्तिनी हो जाती हैं; अतः उनको विषयविमुख करनेमें कठिनता प्रतीत नहीं होती और मन भी ध्येयाभिमुख बन जाता है। 'कठोपनिषद्'में कहा है—

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

(२। १। १)

'जिसने अमृतत्वकी आकाङ्क्षा करते हुए इन्द्रियादि-समूहको रोक लिया है अर्थात् ध्यान करते समय योनिमुद्रा लगाकर सर्वद्वारोंको बंद कर दिया है, ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्माको देख पाता है।' उस विरल पुरुषको ही 'धीर' कहा जाता है, जो परमात्मप्राप्तिके लिये असंख्य वर्षोंतक श्रद्धापूर्वक तपश्चर्या करनेकी क्षमता रखता हो। वही धीर पुरुष परमपदकी प्राप्तिका अधिकारी होता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ३ । ४१)

'इसलिये हे भरतर्षभ ! तू सर्वप्रथम इन्द्रियोंको अधीन करके ज्ञान और विज्ञानके घाती इस पापी कामको निश्चयपूर्वक मार।' इन्द्रियोंको अधीन करना—इसका अर्थ है, बहिर्मुख इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करना। इसके लिये वर्षोंतक योनिमुद्राका निरन्तर अभ्यास करना पड़ता है। योनिमुद्रामें गुदा, शिश्न, नेत्र, कर्ण, नासिका, मुख और खेचरीमुद्राद्वारा ब्रह्मरन्ध्र—इन समस्त द्वारोंको बंद किया जाता है; तदनन्तर चित्तको भ्रूमध्यमें विलीन करनेकी चेष्टा की जाती है। जब प्राण अति प्रबल होकर अपानको ऊर्ध्वगामी बना देता है, तब विषयवासना क्रमशः न्यून होकर अन्तमें सर्वदा नष्ट हो जाती है। तत्पश्चात् ऋतम्भरा-प्रज्ञाकी उपलब्धि होती है। वही योगीको परमपदतक पहुँचा देती है। प्रपत्तिका उपासक इस ऋतम्भरा-प्रज्ञाको 'ईश्वरानुग्रह' कहता है। उद्दीपन प्राप्त होते ही ब्रह्मचारीके मनमें कामवासना उद्भूत होती है और यह संयमद्वारा दमित नहीं हो पाती तो वीर्यपात होता ही है। दूसरे पक्षमें, ऊर्ध्वरेता योगीके परिमार्जित तन-मनमें विषयवासनाका पुनर्जन्म ही नहीं होता—अधःस्रोता वै जीवाः। ऊर्ध्वस्रोता वै देवाः।

श्रीमद्भगवद्गीताके आठवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकका तीसरा चरण है—'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।' जिनको परमपदकी प्राप्तिकी अभिलाषा होती है उनके लिये ब्रह्मचर्यका परिपालन अनिवार्य ही है। इसके लिये सुरपति इन्द्रको भी वर्षोंतक ब्रह्मचर्यका परिपालन करना पड़ा है। अथर्ववेदमें कहा है—'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। —ब्रह्मचर्यरूप तपसे देवोंने मृत्युको मार डाला।' 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' (गीता १५ । ७) 'इस देहमें मेरा ही सनातन अंश—वीर्य जीवरूप है।' 'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। (गीता ७ । १०)। हे पार्थ ! सम्पूर्ण भूतोंका सनातन कारण—वीर्य मुझहीको जान।' इन वचनोंसे यह सिद्ध है कि वीर्य विष्णुका स्वरूप है और ब्रह्मचर्यका परिपालन विष्णुकी ही उपासना है। 'शिवसंहिता'में भगवान् शिवजी अपना परिचय देते हैं—'अहं बिन्दुः। मैं शिव वीर्यरूप हूँ।' अतः ब्रह्मचर्यका परिपालन शिवकी ही उपासना है। 'शतपथब्राह्मण'में कहा है—'वीर्यं वै भर्गः। वीर्य ही भर्ग है।' (भर्गके कई अर्थ हैं—आत्मा, शिव, चैतन्य, ज्योति, सूर्य, अग्नि, प्रकाश इत्यादि ।) अतः ब्रह्मचर्यका परिपालन हिरण्यगर्भकी ही उपासना है। सप्तशतीका उपदेश है—'या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।' इससे यह फलित होता है कि शक्ति वीर्यरूप है। अतः ब्रह्मचर्यका परिपालन शक्तिकी ही उपासना है। 'कठोपनिषद्'का उपदेश है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥
एतद् वै तत् ।
(२ । ३ । १)

'जिसका मूल ऊपरकी ओर तथा शाखाएँ नीचेकी ओर हैं, ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन है। वही शुक्र है, वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है। सम्पूर्ण लोक उसीमें आश्रित हैं। कोई भी उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। निःसंशय यही वह ब्रह्म है।' अतएव ब्रह्मचर्यका परिपालन ब्रह्मोपासना ही है। इस उपासनासे सगुण ईश्वरके समस्त स्वरूपोंकी उपासना अनायास ही हो जाती है। ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ है—'ब्रह्ममें गति करना।'

ब्रह्मचर्यका परिपालन करना एक बात है और ऊर्ध्वरेता बनना यह दूसरी बात है। युवावस्था प्राप्त होते ही अज्ञ व्यक्ति भी कामवासनासे चञ्चल हो उठता है। इतना ही नहीं, पशु, पक्षी, जीव, जन्तु—ये सभी कामवासनाके शिकार बन जाते हैं। कामवासनाका निरोध दुष्कर है। इस सर्वव्यापी कामकी परिधिमें सबीज समाधिका अभ्यास करनेवाले योगी भी आ जाते हैं।

योगमार्गका सच्चा प्रारम्भ भोगस्थानसे ही होता है। इसलिये योगीका चित्त क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त अवस्थाओंका आखेट बनता है। जब वह एकाग्र और निरोध अवस्थाओंकी भूमिकामें पदार्पण करता है तभी कामवासनाको पराजित करनेमें समर्थ होता है। क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त—ये तीनों अवस्थाएँ प्रभु-वियोगकी द्योतक हैं। उनका अन्तर्भाव सबीज समाधिमें होता है। एकाग्र और निरोधकी अवस्थाएँ प्रभु-संयोगकी द्योतक हैं। उनका अन्तर्भाव निर्बीज समाधिमें होता है। ये पाँचों अवस्थाएँ मङ्गलमयी हैं। देवर्षि नारदजीने उसका संकेत संक्षेपमें इस प्रकार किया है—

'यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति।' (नारदभक्तिसूत्र ६) 'जिस (परम प्रेमरूपा भक्ति) को जानकर भक्त उन्मत्त हो जाता है, जडीभूत (मूढ) हो जाता है और आत्माराम बन जाता है।' श्रीमद्भागवतमें तो इसका अनुपम, अद्वितीय और विस्तृत वर्णन सम्प्राप्त होता है—

> शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
> र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
> गीतानि नामानि तदर्थकानि
> गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
> एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
> जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
> हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
> त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
> (११ । २ । ३९-४०)

'भक्त चक्रपाणि भगवान्‌के कल्याणकारक एवं लोक-प्रसिद्ध अवतारों और कर्मोंको सुनता हुआ, उन गुणों और लीलाओंका स्मरण दिलानेवाले नामोंका लज्जारहित गान करता हुआ संसारमें अनासक्त होकर विचरता है। इस प्रकारका व्रत ग्रहणकर वह परम प्रियतम प्रभुके नाम-संकीर्तनसे उनमें अत्यन्त स्नेह हो जानेके कारण द्रवितचित्त हुआ, उन्मत्त-सदृश कभी मुक्त हास्य करता है, कभी आक्रन्दन करता है, कभी चीखता है, कभी उच्च स्वरसे गाने लगता है और कभी नृत्य करता है; लोगोंकी मान्यताओंसे परे हो जाता है।'

'भक्त कभी उच्च स्वरसे गाने लगता है' ऐसा जो श्लोकमें कहा गया है उसका अर्थ यह करना चाहिये कि—'वह गान्धर्वगान अर्थात् अनाहत-नादोत्पन्न गानको उच्च स्वरसे गाने लगता है।' उसी प्रकार इसी श्लोकमें कहा गया है कि 'कभी नृत्य करता है' उसका अर्थ भी यह करना चाहिये कि 'कभी स्वयंभू नृत्य करता है।' उपर्युक्त श्लोकोंमें प्रपत्तियोगके उपासककी एक विशिष्ट अवस्थाका वर्णन किया गया है। किंतु यह ध्यान रहे कि ये सारी चेष्टाएँ एकान्त स्थानमें ध्यानावस्थामें ही होती हैं। यदि वे चेष्टाएँ प्रकटमें होने लग जायँ तो यह जानना चाहिये कि उपासक योग-भ्रष्ट हो चुका है। इसकी ओर संकेत करते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने श्रीमद्भगवद्गीताके छठे अध्याय ध्यान-योग अथवा आत्मसंयमयोगमें कहा है—

> पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
> न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥
> (६ । ४०)

'हे पार्थ! उस योगभ्रष्ट पुरुषका न तो इस लोकमें और न तो परलोकमें ही विनाश होता है; क्योंकि हे प्यारे! कोई भी श्रेयार्थी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता है।'

भक्तयोगी कहते हैं—वियोगमें ही श्रीहरिका सम्पूर्ण सामीप्य होता है। उसमें जितनी तत्परता होती है, उतनी संयोगमें नहीं होती। अतः वियोग ही विशेष योग है। संयोगके महासुखसे वियोगका महादुःख अत्यन्त मधुर होता है।

योगी योगभ्रष्ट क्यों होता है?

योगभ्रष्टताके कई कारण हो सकते हैं; किंतु उसका प्रधान कारण सिद्धियोंकी कामना अर्थात् फलेच्छा ही है। दक्षिणायनके मार्गमें सिद्धियाँ शीघ्र मिलती हैं। उपासक उनको पाकर अधिक लोलुप होता जाता है। वे सब सिद्धियाँ लौकिक ही होती हैं; इनका फल संसार-प्राप्ति ही होता है; प्रपत्तियोगका सच्चा उपासक निष्काम भक्त ही होता है, अतएव वह समीपस्थ लौकिक सिद्धियोंकी ओर देखता ही नहीं है। उसको जो अलौकिक सिद्धियाँ मिलती हैं, उनसे वह प्रोत्साहित हो उठता है; क्योंकि उनके द्वारा उसके अन्तः-करणमें स्नेह, श्रद्धा, ज्ञान तथा धैर्य समृद्ध होते हैं और जटिल योग समस्याओंका समाधान हो जाता है। योग-भ्रष्टताका दूसरा महत्त्वका कारण अश्रद्धा, अधैर्य और संशय है। इसकी उत्पत्तिसे उपासकका चित्त उपासनामें लगता नहीं और यदि यह क्रम दीर्घकालतक चलता रहता है तो उपासना ही छूट जाती है।

ऊर्ध्वरेता बननेवाले पूर्णयोगीको ही राजयोगी कहना चाहिये। यह तो विदित हो ही चुका है कि निर्बीज समाधि सिद्ध होते ही उपासकको दिव्य शरीरकी प्राप्ति होती है और अष्टसिद्धियोंसहित सर्वज्ञता तथा स्थितप्रज्ञता उपलब्ध होती है। ऐसा संत प्रभुका ही प्रतिनिधि होता है। इसको कोई अपर ईश्वर भी कह दे तो अत्युक्ति नहीं होगी। दिव्य शरीरकी प्राप्ति किसको और कैसे होती है, उसके लिये श्रीयोगिराज गोरक्षनाथजीने 'गोरक्षपद्धति' में कहा है—

> स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा।
> पाण्डुरः शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः॥

सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः ।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥
बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दु रजो रविः ।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥
वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः ।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्ततः ॥

(१ । ७१—७४)

"वह बिन्दु दो प्रकारका होता है—एक तो जिसको 'शुक्र' कहते हैं वह, जो (पीलापन लिये हुए) श्वेतवर्ण होता है; दूसरा जिसको महारज कहते हैं वह, जो रक्तवर्ण होता है । हिंगुलके द्रवसदृश रज नाभिमण्डलमें तथा बिन्दु चन्द्रमाके स्थान भ्रूमध्यमें स्थित रहता है । इन दोनोंका ऐक्य अत्यन्त दुर्लभ है । बिन्दु शिव तथा चन्द्र और रज शक्ति तथा सूर्य है । इन्हींकी एकतासे परम पद प्राप्त होता है । शक्तिचालिनीमुद्राद्वारा प्रेरित अपानवायुसे जब रज बिन्दुके साथ सम्मिश्र हो जाता है, तब उपासकका शरीर दिव्य हो जाता है ।"

यह एक वैज्ञानिक सत्य है । जब अपानवायु अति प्रबल होकर शुक्रधरा नाड़ीमें उद्भूत हुए वीर्यको ऊर्ध्वगामी बना देता है, तब योगीको अमृतपान करनेके लिये शुभ अवसर सम्प्राप्त होता है । यह क्रम वर्षोंतक चलता है । अन्तमें उस अमृतद्वारा दिव्य शरीरका निर्माण होता है । जिस प्रकार स्त्री-पुरुषके रजवीर्यके संयोगसे एक नवीन शरीरकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार योगीके अपने ही रज-वीर्यके संयोगसे एक नवीन शरीरका निर्माण होता है । वह शरीर स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न नहीं होता, अतः इसको अयोनिज या दिव्य कहा गया है । संत श्रीज्ञानेश्वरजी महाराजने ज्ञानेश्वरी भगवद्गीताके छठे अध्याय ध्यानयोग या आत्मसंयमयोगमें इसकी विशद समीक्षा की है ।

भगवान् शिवजीने 'शिवसंहिता' में कहा है—

रसनां प्राणसंयुक्तां पीड्यमानां विचिन्तयेत् ।
न तस्य जायते मृत्युः सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैव मूर्च्छा प्रजायते ॥
अनेनैव विधानेन योगेन्द्रोऽवनिमण्डले ।
भवेत् स्वच्छन्दचारी च सर्वापत्परिवर्जितः ॥
न तस्य पुनरावृत्तिर्मोदते स सुरैरपि ।
पुण्यपापैर्न लिप्येत एतदाचरणेन सः ॥

(३ । ८०—८३)

'हे पार्वती ! जो योगी जिह्वाको प्राणसहित पीडित करके उसको ब्रह्मरन्ध्रमें ध्यानसंयुक्त स्थिर करेगा, उसकी मृत्यु न होगी, यह मैंने परम सत्य कहा है । इस प्रकार खेचरी-मुद्राके सम्यक् अभ्याससे वह योगी दूसरा कामदेव बन जायगा और उसको क्षुधा, तृषा, निद्रा और मूर्च्छा कभी न उत्पन्न होगी । इस विधानसे योगी संसारमें समस्त दुःखोंसे रहित होकर स्वतन्त्र हो जायगा और वह इस आचरणद्वारा पुण्य-पापसे लिप्त नहीं होगा, न फिर संसारमें उसका जन्म होगा तथा देवोंके साथ आनन्द करेगा ।'

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने सत्य ही कहा है—'मद्भक्ता यान्ति मामपि ।' (७ । २३)' मेरे भक्त मुझहीको प्राप्त होते हैं ।' अपने स्थानकी विशिष्टता बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १५ । ६)

'जिस स्वयं प्रकाशमय परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है न अग्नि ही, जिसको पाकर योगी फिर संसारमें नहीं आते हैं, वही मेरा परम धाम है ।'

हरि-भजन करो

मत कर मोह तू, हरि भजनको मान रे ।
नयन दिये दरसन करनेको, स्रवन दिये सुन ग्यान रे ॥
बदन दिया हरिगुन गानेको, हाथ दिये कर दान रे ।
कहत कबीर सुनो भई साधो, कंचन निपजत खान रे ॥

—कबीर

उद्गीथ विद्या

(लेखक—श्रीरामप्यारेजी मिश्र एम्० ए० (संस्कृत तथा हिंदी) व्याकरण-शास्त्राचार्य, साहित्यरत्न)

ऐहिक-आमुष्मिक उभयलोकहितकी दृष्टिसे भारतीय विचारकोंने जिन कर्म, उपासना तथा ज्ञानमार्गोंका अन्वेषण किया है, उनमें आत्यन्तिक कल्याणकी प्राप्ति ज्ञान (अद्वैत आत्म-ज्ञान) से ही होती है। उपासनायुक्त विहित कर्मोंके कर्ताको अर्चिमार्गसे ब्रह्मलोकका अधिकारी कहा गया है। जो व्यक्ति निषिद्ध कर्मोंका त्याग कर समस्त शुभ कर्मोंके द्वारा देवताओंका विज्ञानपूर्वक अनुष्ठान करके देवयान मार्गसे ब्रह्मलोकको प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, वह उपासनारहित केवल कर्म करनेवाले (धूमादि मार्गसे चन्द्रलोक प्राप्त करनेवाले) व्यक्तिसे तो उत्तम है, फिर भी इन दोनों मार्गोंसे आत्यन्तिक पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं होती। जो आत्मज्ञानसे रहित हैं, अन्याधीन हैं, उनको क्षीण होनेवाले लोक प्राप्त होते हैं। किंतु आत्मज्ञानी स्वराट् होता है। कर्मकाण्डी पुण्यलोक मात्र पाते हैं— 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'—पुण्य (अर्जित) के क्षीण होनेपर वे पुनः मृत्युलोकमें जन्म लेते हैं; तथा ब्रह्मनिष्ठ अमृतत्वको प्राप्त करते हैं। जीवके मुक्तिमार्गमें मल, विक्षेप तथा आवरण—ये तीन व्यवधान हैं। इनमेंसे अन्तःकरणके मलिन-संस्कारजनित दोषोंकी निवृत्ति (मलापहरण) निष्काम कर्मसे होती है। विक्षेप या चित्तकी चञ्चलताका विनाश उपासनासे होता है और आवरण या स्वरूप-विस्मृतिका विनाश ज्ञानसे सम्भव है। इस प्रकारके ज्ञानीको किसी देवयान या पितृयानकी अपेक्षा नहीं रहती। उसे तो यहाँ ही शरीरके तत्त्वोंके लीन होनेपर कैवल्य-प्राप्ति हो जाती है। आत्मज्ञानसे आत्मामें स्वभावसे ही आरोपित कर्ता, कारक, क्रिया और फलभेदकी निवृत्ति होती है; किंतु उपासना किसी शास्त्रोक्त आलम्बनको ग्रहण कर उसमें विजातीय प्रतीतिसे अव्यवहित सदृश चित्तवृत्तिका प्रवाह उत्पन्न करती है। चित्तशुद्धिद्वारा वस्तुतत्त्वकी प्रकाशिका होनेसे अभ्युदयकी साधनभूता ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली, कर्मफलकी समृद्धि-फलदात्री तथा मनोवृत्तिरूपा होनेके कारण उपासनाएँ ब्रह्मविद्यामें योग प्रदान करती हैं। साधारण पुरुषोंका मन कर्माभ्यासमें दृढ़ रहता है। उनके लिये कर्म त्याग कर उपासनामें चित्त लगाना कठिन है। ऐसे ही लोगोंके लिये कर्माङ्ग-सम्बन्धिनी 'उद्गीथ-विद्या'की उपासनाका श्रुतिमें निर्देश किया गया है।

साधारण लोकमें ४ वेद, ६ वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द तथा ज्योतिष), मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र तथा पुराण—इन चतुर्दश या आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अर्थशास्त्रको और मिलाकर अष्टादश विद्याओंमें ही समस्त वाङ्मयका समावेश कर लिया जाता है। यथा—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणानि विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं च विद्या ह्यष्टादशैव ताः ॥

मननशील अध्ययनकर्ता संस्कृत काव्यों, नाटकों विशेषतः वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारतके अनुशीलनसे संजीवनी, प्रतिस्मृति, आवर्तिनी, बलातिबला, अनुस्मृति तथा चाक्षुषी प्रभृति विद्याओंसे परिचित हो जाता है। किंतु वैदिक तथा औपनिषदिक ज्ञानपरम्परामें कुछ विलक्षण विद्याओंका निर्देश है, जो ब्रह्मविद्यामें सहायक हैं। इनमें उद्गीथविद्या, मधुविद्या, अग्निविद्या तथा शाण्डिल्यविद्याका विशेष महत्त्व है। इन विद्याओंमें भी रसतमत्व, आप्ति तथा समृद्धि गुणोंसे युक्त होनेके कारण 'उद्गीथ-विद्या'की उपासना कर्माङ्ग-सम्बन्धिनी होनेके कारण भी सर्वजनहृदयाह्लादिनी मानी जाती है। शुनकके पुत्र अतिधन्वाने उदरशाण्डिल्यसे उद्गीथका महत्त्व बताकर कहा था—

'यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति।'

(छान्दोग्य उप० १।९।३)

'जबतक तेरे वंशज इस उद्गीथको जानेंगे, तबतक इस लोकमें उनका जीवन उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर होता जायगा।'

आगेकी श्रुतिमें ऐसा निर्देश है कि पूर्वकालिक परम भाग्यशाली पुरुषोंको ही इस लोक तथा परलोक

दोनोंमें उत्कृष्टतर जीवनकी प्राप्ति उद्गीथ-उपासनासे होती है। उत्कृष्ट जीवनके क्रमिक विकासरूप दृष्ट एवं ब्रह्माकाश-पर्यन्त विशिष्ट लोकविजयरूप अदृष्ट—उभय फलोंकी प्राप्ति होनेके कारण ही प्रजापतिके पुत्र देवोंने असुर-विनाशके लिये 'उद्गीथ'-उपासनाका अनुष्ठान किया था। अङ्गिरा, बृहस्पति, अपास्यके अतिरिक्त दल्भके पुत्र दाल्भ्य 'बक' प्राणस्वरूप उद्गीथकी आध्यात्मिक उपासना करनेवालोंमें प्रमुख माने जाते हैं। श्रुति माध्यम, गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव तथा अत्रि भी उद्गीथके उपासक थे।

'छान्दोग्य-उपनिषद्'के निर्देशसे प्रतीत होता है कि शिलक, दाल्भ्य तथा क्षत्रिय प्रवाहण उद्गीथ-विद्यामें अत्यन्त निपुण थे। सर्वज्ञकल्प उषस्ति जानश्रुति तथा कैकयको भी उद्गीथ-उपासना अवश्य ज्ञात थी। उद्गीथ-उपासना आत्मविषयिणी है। उसकी आधिदैविक उपासना वृष्टि समाहित करनेके लिये की जाती है। उद्गीथका उपासक अन्नवान् हो जाता है। उसकी जठराग्नि उद्दीप्त रहती है। उद्गीथका उपासक उसीमें प्रविष्ट हो तदाकार होकर अभय तथा अमृत हो जाता है। कौषीतकिने उद्गीथकी उपासनासे पुत्र तथा उसके पुत्रने अनेक पुत्र प्राप्त किये थे। उपासक जिन-जिन कामनाओंकी कामना करता है, उनकी तथा मनुष्य-जीवन-सम्बन्धी सभी भोगोंकी भी प्राप्ति 'उद्गीथ'-उपासनासे होती है।

'उद्गीथ-भक्ति' नामका 'सामवेद'में स्तोत्रविशेष होने तथा ॐकार उसका एक अङ्ग होनेसे उद्गीथ ॐकारको कहते हैं। इसी प्रकारका निर्देश 'छान्दोग्य उपनिषद्'के अध्याय १ खण्ड १ के प्रथम मन्त्रमें है—

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्।'

'ओम् (ॐ) यह अक्षर उद्गीथ है; इसकी उपासना करनी चाहिये। उद्गाता ॐ—ऐसा कहकर उच्चस्वरसे सामगान करता है। उस उद्गीथ-उपासनाकी व्याख्या की जाती है। उसके विभूति एवं फलका विवेचन किया जाता है।'

'ॐ'—यह परमात्माका सर्वाधिक प्रिय नाम है। मूर्ति आदिके समान परमात्माका प्रतीक है। इस प्रकार नाम और प्रतीक उभयरूपमें परमात्माकी उपासनाका उत्तम साधन है। सभी जप, कर्म, स्वाध्याय तथा दानरूप कर्मोंमें 'ॐ'का उच्चारण करनेसे कार्यारम्भ करना श्रेयस्कर माना जाता है। उद्गाता 'ॐ' इस अक्षरसे आरम्भ करके उद्गान करता है—इसीलिये ॐकार उद्गीथ है। 'ॐकार'को सर्वोत्तम तत्त्व माना जाता है।

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः। अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः॥

(छान्दो० १। १। २)

"भूतों (चराचर) का रस पृथिवी है, (उसीसे जगत्की उत्पत्ति-स्थिति है तथा लयका स्थान भी वही है)। पृथिवीका रस जल है, जलका रस ओषधियाँ हैं। ओषधियोंका रस पुरुष है। पुरुषका रस वाक् है, वाक्का रस ऋक् है, ऋक्का रस साम और सामका रस उद्गीथ (ॐ) है।"

'वाक् और प्राण क्रमशः ऋक् और सामके कारण हैं। इसीलिये वाक्को 'ऋक्' तथा प्राणको 'साम' कहा जाता है। ॐकारके उभयरूप होनेसे उसकी उपासनासे सम्पूर्ण ऋक् एवं सामकी उपासनाकी प्राप्ति होती है। ॐकारका उपासक उसके गुणोंसे युक्त हो जाता है। यह अनुमति-सूचक अक्षर है। मनुष्य ॐ कहकर ही किसीको कुछ अनुमति देता है। अनुज्ञा ही समृद्धि है। इस प्रकार वह निश्चय ही सभी कामनाओंको समृद्ध करनेवाला है। (छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय १, खण्ड १, मन्त्र ४–८) समस्त वैदिक कर्म इसी 'ॐ' अक्षरकी पूजाके लिये किये जाते हैं। 'कठ उपनिषद्'में भी 'ॐ'को वेदसार, ब्रह्म तथा श्रेष्ठ आलम्बन माना गया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(कठ० १। २। १५)

यमने नचिकेतासे कहा—'सभी वेद जिस पदका वर्णन करते हैं, सभी तपोंको जिसकी प्राप्तिका साधन कहते हैं, जिसकी इच्छासे मुमुक्षुजन ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, संक्षेपमें मैं तुझे उस पदको कहता हूँ। वह पद ॐ यही है।'

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(कठ० १।२।१६)

'ॐ यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर है। इस अक्षरको ही जानकर जो जिसकी इच्छा करता है वही उसका हो जाता है।'

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
(कठ० १।२।१७)

'ॐकार ही श्रेष्ठ आलम्बन है। यही पर आलम्बन है। इस आलम्बनको जानकर पुरुष ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने ॐकारको ब्रह्म, प्रणव तथा आत्मस्वरूप बताकर यज्ञ, दान, तप, क्रियाके आरम्भमें ॐकारके उच्चारणका विधान किया है। यथा—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥
(गीता ८।१३)

'जो पुरुष ॐ इस ब्रह्म-स्वरूप अक्षरका उच्चारण करता हुआ उसके अर्थस्वरूप मेरा चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ता है, उसे परमगति प्राप्त होती है।'

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥
(गीता ७।८)

श्रीकृष्णने जल आदिमें अपनी व्यापकताका वर्णन करते हुए अर्जुनसे कहा—'हे अर्जुन! जलमें मैं रस हूँ। चन्द्रमा-सूर्यमें प्रकाश हूँ। सम्पूर्ण वेदोंमें प्रणव ॐकार हूँ। आकाशमें शब्द एवं पुरुषोंमें पौरुष हूँ।'

इससे उद्गीथ ॐकार या प्रणव तथा ब्रह्मकी उपासना ही युगान्तरमें सूक्ष्मसे स्थूल होकर निराकारसे साकार कृष्णोपासनाके रूपमें विकसित हो गयी, ऐसा प्रतीत होता है।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥
(गीता ९।१७)

'इस सम्पूर्ण जगत्का पिता, माता, धाता, पितामह तथा जाननेयोग्य पवित्र ओङ्कार, ऋक्, यजुः तथा सामवेद भी मैं ही हूँ।'

इसी प्रकार 'गिरामस्म्येकमक्षरम्' में भी श्रीकृष्णने अपनेको ॐकार कहा है।

ॐकारकी वाक्यरूप एवं वर्णरूप उपासना की जाती है। ॐका उच्चारण कर ही अध्वर्यु आश्रावण, होता शंसन एवं उद्गाता उद्गान करता है। इस प्रकार तीनों वेदोंकी क्रियाओंके प्रारम्भ होते हैं। इन कर्मोंसे ही (यज्ञद्वारा ही) वर्षा होनेसे व्रीहि, यवादि उत्पन्न होनेसे सर्व-मूल भी यही अक्षर माना जाता है।

देवों (प्रजापतिके पुत्रों)ने असुरविनाशके लिये क्रमशः नासिक्य-उद्गीथ, वाच्-उद्गीथ, श्रोत्र-उद्गीथ, मन-उद्गीथकी उपासना की थी; किंतु असुरोंने क्रमशः दुर्गन्धि, अनृत, अदर्शनीय, अश्रवणीय, असंकल्पनीय बनाकर दूषित कर दिया था; किंतु मुख्य प्राणके समक्ष असुर विनष्ट हो गये थे। इसीलिये उद्गीथकी उपासना मुख्य प्राणरूपमें अङ्गिरा, बक आदिने की थी। यह आध्यात्मिक आत्मविषयिणी उपासना थी।

आधिदैविक उपासनामें सूर्यको उद्गीथ कहा गया है। प्राण एवं आदित्यमें अभेद माना गया है। दूसरे प्रकारसे आध्यात्मिक उपासनामें व्यान दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये—ऐसा निर्देश है। इसी क्रममें उत् (प्राण), गी (वाणी) तथा थ (अन्न) की उपासना उद्गीथ-उपासनासे स्वयं सिद्ध है। द्यौ, आदित्य तथा सामको 'उत्', अन्तरिक्ष, वायु तथा यजुको 'गी' एवं पृथिवी, अग्नि एवं ऋक्को 'थ' मानकर उपासना करनेवाला अन्नवान् उद्दीप्त जठराग्नि-वाला हो जाता है।

वेदोंकी अपेक्षा उनके सूक्ष्मरूप ॐकारका महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि देवोंने मृत्युके भयसे (असुरोंसे डरकर) त्रयीविद्यामें प्रवेशकर मन्त्रोंसे अपनेको ढक लिया, तब भी असुरोंने उन्हें देख लिया; किंतु जब वे ॐमें प्रविष्ट हो गये थे तब अभय और अमृत हो गये। असुर उनका कुछ भी अहित न कर सके। 'इसी प्रकार विद्वान् होकर जो इस अक्षरकी उपासना करता है, इस अमृत और अभय-रूप अक्षरमें ही प्रवेश कर जाता और देवोंके समान अमर हो जाता है'—

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरं स्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ।

(छान्दोग्य० १ । ४ । ५)

ओङ्कार, उद्गीथ और आदित्यमें अभेद मानकर उद्गीथ-उपासनाका उपदेश है । आधिदैविक उपासनामें उद्गीथदेवके ऋक्, साम दो पक्ष माने गये हैं । जिनमें पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र एवं आदित्यके शुक्ल वर्णको ऋक् एवं अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और आदित्यके कृष्ण श्यामलवर्ण (जिसे समाहित पुरुष ही देख सकते हैं) को साम मानकर उद्गीथ-उपासनाको अति व्यापक रूप दिया गया है । इस प्रकार उत्देव ऋक् साम दो पक्षोंवाला परोक्षप्रिय है । वह आदित्यलोकसे परे, उसका शासक और धारणकर्ता भी है । यह उद्गीथका देवताविषयक रूप है ।

आध्यात्मिक उपासनामें—वाक्, चक्षु, श्रोत्र तथा नेत्रगत शुक्ल वर्णको ऋक् तथा प्राण, आत्मा, मन तथा नेत्रगत कृष्णवर्णको साम माना जाता है । वस्तुतः आदित्यगत एवं नेत्रगत पुरुष दोनोंको हिरण्मय पुरुषके रूपमें उद्गीथ माना गया है । उपासक आदित्यान्तर्गत ज्योति-पुरुषकी उपासनासे आदित्यलोकसे ऊपरके लोक तथा देवोंके भोगोंको और नेत्रगत पुरुषद्वारा मनुष्यसम्बन्धी भोगोंको प्राप्त करता है ।

प्रवाहणने शिलक एवं दाल्भ्यसे उद्गीथसम्बन्धी प्रश्न पूछा था । उसके उत्तरमें शिलक एवं दाल्भ्यके प्रश्नोत्तरोंमें क्रमसे सामकी (प्रकरणवशात् उद्गीथकी) गति (आश्रय) उत्तर क्रमसे—स्वर, प्राण, अन्न, जल, वह लोक—(स्वर्ग) को दाल्भ्यने बताया था । शिलकने उसे अप्रामाणिक मानकर, सामका आश्रय इस लोकको बताया था, किंतु प्रवाहणने इस लोकको भी 'अन्तवान्' मानकर उद्गीथका आश्रय होनेसे निषेध कर दिया था ।

प्रवाहणकी दृष्टिसे उद्गीथका आश्रय आकाश है । वही सर्वभूताश्रय है । आकाश शब्दसे परमात्मा विवक्षित है । सम्पूर्ण भूत—तेज, जल, अन्न इस क्रमसे आकाशसे उत्पन्न होते हैं । प्रलयमें विपरीतक्रमसे उसीमें विलीन हो जाते हैं ।

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ।

(छान्दोग्य० १ । ९ । १)

शिलकने कहा, 'इस लोककी क्या गति है ?' इसपर प्रवाहणने उत्तर दिया—'आकाश; क्योंकि ये समस्त भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं । आकाशमें ही लयको प्राप्त होते हैं । आकाश ही इनसे बड़ा है । अतः आकाश ही इनका आश्रय है ।'

इस प्रकार उद्गीथ या ॐकार-उपासना ही प्राण, आदित्य प्रणव एवं आदित्यान्तर्गत पुरुष या चाक्षुषपुरुषके रूपमें विभिन्न क्रमोंमें प्रतिष्ठित हो गयी । ॐका आश्रय शब्दाश्रय आकाश भी सिद्ध है । इसी उद्गीथ-विद्याकी उपासनाने कालान्तरमें गायत्री एवं शब्दब्रह्मकी उपासनाको उत्पन्न किया । उपनिषद्के प्रतीकों एवं रूपकोंके रहस्यको हृदयङ्गम करनेके पश्चात् ही उद्गीथ-उपासनाके तत्त्वोंकी संगति लगती है । आज हम उपनिषद्की भाषासे अपरिचित हो रहे हैं । इससे राष्ट्रकी बहुत क्षति हो रही है । इस सात्त्विक उपासनासे व्यक्ति विकासकी परम सीमा सहज ही प्राप्तकर जागतिक कोलाहलोंसे दूर हो सकता है ।

अपने कालको कोई नहीं देखता

भेको धावति तं च धावति फणी सर्पं शिखी धावति
व्याघ्रो धावति केकिनं विधिवशाद् व्याधोऽपि तं धावति ।
स्वस्वाहारविहारसाधनविधौ सर्वे जना व्याकुलाः
कालस्तिष्ठति पृष्ठतः कचधरः केनापि नो दृश्यते ॥

मेंढक दौड़ता है, उसके पीछे (उसे खा जानेवाला) सर्प दौड़ता है, सर्पके पीछे मयूर, मयूरके पीछे सिंह और दैवात् सिंहके पीछे व्याध (शिकारी) दौड़ रहा है । इस प्रकार अपने भोजन और विहारकी सामग्रियोंके पीछे सभी व्याकुल हो रहे हैं; पर पीछे जो चोटी पकड़े हुए काल खड़ा है, उसे कोई नहीं देखता ।

श्रेयस् और संकल्प

(लेखक—श्रीआचार्य सर्वे)

देहाध्यासका निराकरण त्यागयुक्त वैराग्यके अभ्यासके द्वारा किया जा सकेगा। अन्तःकरणकी उत्तम प्रक्रियामें जो विजातीय संस्कारगत दोषके कारण बाधाएँ प्रसूत होती हैं वे इसीलिये हैं; क्योंकि देहात्मभावके विसर्जनका विधिवत् अभ्यास शैशवसे ही नहीं किया-कराया गया।

(१) चित्तकी शुद्धि और त्याग

त्याग अथवा शुद्धिका मार्ग यद्यपि आजकल प्रायः दर्शनकी भाषामें उपदिष्ट है, जिसे कतिपय धर्मके उत्तम व्याख्याता भी (निषेधपरक होनेके कारण) आधुनिक परिस्थितियोंमें 'जीव' के द्वारा अतिशय कठिनतापूर्वक वरणीय मानते हैं। उनका कथन है कि 'दर्शन' निषेधके तथा 'धर्म' विधिके निकटस्थ है; क्योंकि दर्शनकी कुल व्याख्याएँ—मानवीय अथवा आध्यात्मिक हैं, जब कि धारण करनेयोग्य वस्तु (धर्म) केवल आधिदैविक उपलब्धि है, जिसतक भौतिक एवं आध्यात्मिक दार्शनिकोंकी पहुँच नहीं। वह मात्र अधिदेवोंका विषय है। हम इस ऊहापोहमें न पड़कर एक दूसरी ओर संकेत करना उचित समझते हैं। वह है—चित्तकी निर्मलता। चित्त यदि शुद्ध न हुआ······उसमें संस्कार-वृत्ति, स्मृति आदिका कूट (Refuse) रहा तो देहात्म-भावका विसर्जन क्योंकर हो पायेगा ? देहात्मभाव जबतक है, तबतक तो केवल विकल्प-ही-विकल्प है······संकल्पका ठहराव कहाँ ? फिर 'शिव-संकल्प'की तो बात-ही-बात रहेगी। चित्तकी वृत्तियोंका नियन्त्रण भी 'चित्तकी शुद्धि' की अपेक्षा रखता है; क्योंकि नियन्त्रणसे भी उत्तम स्थिति तो यह है कि चित्त सुस्थिर हो। उसमें किसी भी प्रकारकी वृत्तियोंका उदय ही नहीं होना चाहिये। वह प्रशान्त एवं आत्मामें रमणशील हो, देहमें नहीं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग देहात्मभावके निराकरणका हमारा जाना-पहचाना नहीं है।

(२) प्रेयस्‌का क्षेत्र

गीताके सोलहवें अध्यायमें जो (अनेक प्रकारसे) आसुरी सम्पदाको छोड़कर (देहात्मभावसे विरत हो) श्रेष्ठ दैवी-सम्पदाके शास्त्र-सम्मत मार्गको अपनानेकी बात कही गयी है, उसका कारण भी हमें यही प्रतीत होता है कि देहमें आत्मभाव जबतक रहेगा, तबतक दैवी-प्रगति, कल्याण आदि साधन न हो सकेंगे—मोक्ष तो दूरकी बात है। 'मोक्ष' ही मानवका स्वधर्म है······(और) धर्म तो आधिदैविक है। उसकी सिद्धि दार्शनिक ऊहापोह (प्रज्ञाविहीन अन्ध-दार्शनिकता) द्वारा कदापि सम्भव नहीं।

'संकल्प' बिना मनुष्यका स्वधर्म-पालन सम्भव नहीं और चित्तकी शुद्धिके बिना प्राणी संकल्पवान् नहीं हो सकता। शुद्धि कदाचित् त्याग बिना सम्भव न हो। इस प्रकार, श्रेयस् सहज होते हुए भी दार्शनिक ऊहापोहद्वारा जटिल बना दिया जाता है, जिसे धारण करना सम्भव कैसे हो ? अतएव वह धर्मकी ओर नहीं, किसी अन्य भ्रामक तत्त्वकी ओर ठेलता है। सर्वत्र भगवान्‌को अनुभव करनेकी बात भी दार्शनिक अधिक है, आधिदैविक अत्यल्प। मनुस्मृतिकी भाषा भी विधि-निषेधकी भाषा होनेसे उसका धर्मके क्षेत्रमें उतना ऊँचा स्थान नहीं जितना कि 'श्रुति' का। यही बात पाराशर, याज्ञवल्क्य आदि अन्य स्मृतियोंके विषयमें भी कही जा सके तो आश्चर्य नहीं।

आजके दुर्बल हृदय, अशुद्धचित्त मनुष्यमें विधि-निषेधकी भाषाको गहराईसे पचाकर जीवनमें उतारनेकी (वस्तुतः) क्षमता नहीं रही। अतएव, अब दर्शनकी भाव-भूमिसे ऊँचा उठाकर लोकमानसको दृढ़तापूर्वक 'धर्म' में स्थिर करनेकी ही उपयोगिता है। धर्म ही प्रधान है। उसके अतिरिक्त कुल दार्शनिक ऊहापोह मनुष्यको प्रेयस्‌के क्षेत्रमें घसीटती है और वहीं उसे माँजने-सँवारनेका उपक्रम करती है। मनुष्य अनेक प्रकारके अभावोंसे ग्रस्त एवं उत्पीड़ित है। उसे व्यावहारिक समाधान बताना चाहिये—जैसे महात्मा गाँधी, सुभाषचन्द्र बोस आदि महापुरुषोंने अपने जीवनसे उदाहरण द्वारा बतानेकी चेष्टामें अपने प्राणतक न्यौछावर कर दिये और जैसा कि महामान्य तिलकने लोकसंग्रहका 'एक व्यवहार-धर्म' लोककी सेवामें उदाहरण-शिक्षाद्वारा प्रस्तुत किया। यदि समय रहते ऐसा नहीं किया जा सका तो प्रेयस्‌का क्षेत्र विकसित हो मानवका विनाश चरितार्थ होगा। वह देहात्मभावके असुरद्वारा समूचा निगल लिया

जायगा—इसमें संशय······अब हमें प्रतीत नहीं होता।

(३) श्रेयस्‌की सहजता

'धर्म'में स्थिर रहनेयोग्य बनानेवाला श्रेयस्-तत्त्व ही शिव-संकल्पका प्रवर्त्तक है, जो मानवको योगयुक्त अथवा सर्वप्रकारसे सुखी बना सकेगा—ऐसा हमारा भी विनम्र विश्वास है और यह इतना सहज है कि इसे और अधिक (भावुकतासे) उलझानेकी कोई उपयोगिता नहीं। आत्मा प्रत्येक मनुष्यके साथ है, परमात्मा उसे भीतर-बाहर एवं चारों ओरसे घेरे है—उसपर निरन्तर प्रकाश, कल्याण और आनन्दकी वर्षा हो रही है; फिर आश्चर्य है कि (वह) देहको ही आत्मा (The true self) मानकर इस ऊहापोहमें क्यों पड़ा है—

> इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
> इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
> (गीता १६। १३)

आइये, हम प्रकाशमें······'प्रशान्त एवं सुस्थिर' बने रहें और प्रभुको अपना कार्य स्वतन्त्रता एवं आनन्दपूर्वक करने दें।

प्रभु-समर्पित जीवन

(लेखक—श्रीनिरञ्जनदासजी धीर)

संत कबीरका प्रसिद्ध दोहा है—

> मेरे आगे मैं खड़ा तातें रहा छुपाय।
> कबिरा परगट पीव है जो आपा मिट जाय॥

आध्यात्मिक साधन तथा ईश्वर-प्राप्तिका रहस्य इस एक दोहेमें निहित है। पीव परमात्मा तो प्रत्यक्ष है, यहाँतक कि उसके सिवा और कुछ है ही नहीं; किंतु वह दीखता नहीं; उसका अनुभव नहीं होता; क्योंकि 'मैं' का परदा बीचमें पड़ा है। 'मैं' क्या है—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका कथन है कि 'मैं अरु मोर तोर तैं माया।' माया हटी, 'मैं' निकला तो एक ईश्वर ही दृष्टिगोचर होते हैं।

'मैं' का निकालना कहनेमें सरल है, किंतु करनेमें अति कठिन है। सारे आध्यात्मिक साधनोंका निर्माण इसी उद्देश्यसे किया गया है। भक्तिके द्वारा मायासे तरा जाता है। भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं—''त्रिगुणमयी माया दैवी है और 'दुरत्यया' है अर्थात् अलौकिक और दुस्तर है। जो मेरी शरण ले लेते हैं, वे इससे तर जाते हैं।'' शरण लेनेपर 'मैं' नहीं रहता; 'मैं' का स्थान प्रभु ले लेते हैं। ज्ञानद्वारा जब आत्मसाक्षात्कार होता है तो शरीरमें रहनेवाला 'मैं' ब्रह्ममें लीन हो जाता है। श्रीभगवान्‌का वचन है—**'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।'**—जिसकी दृष्टिमें सिवा वासुदेवके और कुछ होता ही नहीं, ऐसा महात्मा बड़ा ही दुर्लभ है।' वह 'मैं'से हीन ही होता है।

ऐसे ही महात्मा थे—आनन्दाश्रमवाले स्वामी रामदास जी, जिन्हें महासमाधि लिये एक वर्षसे कुछ अधिक हो चुका है। इनके जीवनकी दो घटनाओंसे इनके मनकी दशाका पता चलता है।

(१)

श्रीपी० आनन्दराव स्वामी रामदासजीके पूर्व-आश्रमके ज्येष्ठ भ्राता थे, जो मङ्गलोरके दक्षिणमें कसरगोड नामक स्थानमें निवास करते थे और इनसे बहुत प्रेम रखते थे। जब स्वामीजी वहाँ पहुँचे तो वे बहुत प्रसन्न हुए और इनके एकान्तवासके लिये एक नयी बनी धर्मशालामें एक कमरेका प्रबन्ध करा दिया तथा उसमें स्वामीजीकी सुख-सुविधाके लिये एक मोटी चटाई, मृगचर्म, दो खादीकी काषाय-चादरें, दर्शनार्थियोंके लिये दो चटाई, एक हरीकेन लालटेन, एक ताड़के पत्तोंकी छतरी, जलके लिये ताम्रपात्र और कुछ धार्मिक पुस्तकें रखवा दीं। इनके आसनके ऊपर भीतपर कनाडी अक्षरोंमें गत्तेपर लिखा राम-मन्त्र लगा दिया। यह था—**'ॐ श्रीराम, जय राम, जय जय राम'**।

वहाँ रहते कुछ दिन हुए थे कि एक दिन रातके दस बजे, जब खूब वर्षा हो रही थी, एक व्यक्तिने प्रवेश किया। उसने चिथड़े लपेट रक्खे थे। बाल बिखरे थे और एक ताड़की लकड़ीसे बँधी छोटी-सी पुटलिया वह हाथमें लिये था। ऐसा प्रतीत होता था कि वह विक्षिप्त है। वह आकर स्वामीजीके पास बैठ गया और कहने लगा कि 'मैं वहाँ

रातभर विश्राम कर लूँ ?' स्वामीजीने उत्तर दिया—'बड़ी प्रसन्नतासे विराजिये ।' उसने चटाईपर बैठकर अपनी पोटली खोली । उसमें रंग-बिरंगे कपड़ोंके टुकड़े थे । उनको उसने धरतीपर फैला दिया और स्वामीजीकी ओर देखकर वह हँसने लगा । श्रीस्वामीजी मनमें विचारने लगे कि 'प्रभुने कैसा विचित्र वेष बना रक्खा है ।' कुछ समय पश्चात् आगन्तुकने वस्त्रोंके टुकड़े इकट्ठे करके फिर पोटली बाँध ली । फिर स्वामीजीके निकट आकर कनाडी भाषाका प्रसिद्ध भजन, जिसका अर्थ है—'सदा पवित्र, दयासागर गोविन्द ! तेरा कोई पार नहीं पा सकता ।' बड़े भावसे गाने लगा । वह कनाडी भाषा बोलता था । उसने गाना समाप्त कर दिया और स्वामीजीके मुखारविन्दकी ओर निहारकर कहा—'देखो, मेरे वस्त्र जीर्ण-शीर्ण हो रहे हैं । जो वस्त्र आपने पहन रक्खे हैं, क्या वे मुझे नहीं दे देंगे ?' श्रीस्वामीजीने चादर उतारकर उसको दे दी । उसने लेकर उसको तै करके अपने पास रख लिया ।

फिर आज्ञा दी कि 'लालटेनकी बत्ती धीमी कर दो; बुझाना नहीं, और सो जाओ ।' स्वामीजीने आज्ञाका पालन किया और वह लेट गया । स्वामीजी भी लेट गये ।

पाँच मिनट बाद ही वह उठकर बैठ गया और स्वामीजीको उठ बैठने और लालटेनकी बत्ती ऊँची करनेको कहा । उसकी आज्ञाका पालन हो गया तो वह बोला—'मुझे अभी कुछ और भी माँगना है ।' स्वामीजीने उत्तर दिया कि 'इस कमरेमें जो कुछ है, रामजीका है । तुम वही हो, इसलिये तुम्हारा अपना ही है । निःसंकोच जो चाहो ले लो ।' स्वामीजीने पहली चादरके स्थानमें दूसरा वस्त्र ले लिया था । वह बोला—'जो वस्त्र तुमने अभी ओढ़ा है, मुझे यह भी चाहिये ।' बिना कुछ कहे वह वस्त्र भी भेंट कर दिया । फिर कुछ मिनट पीछे बोला—'मुझे जल-पात्रकी आवश्यकता है । यदि तुम्हें कोई आपत्ति नहीं तो (कोनेमें रक्खे जलपात्रकी ओर इङ्गित करके कहा कि) इसे दे दो ।' जलसे खाली करके जलपात्र उसको दे दिया और उसके कहनेपर सभी वस्तुओंकी गाँठ बाँधकर उसको दे दी । फिर थोड़े-थोड़े समयके अन्तरसे उसने चटाई, मृगछाला, लालटेन, छतरी, फालतू लंगोट आदि सब कुछ माँगकर ले लिया ।

स्वामीजी अनुभव कर रहे थे कि उसके रामजी इस बातकी परीक्षा ले रहे हैं कि 'क्या अभी मेरेपनका भाव इसमें है ?' पूर्ण समर्पणके जीवनमें संसारकी किसी भी वस्तुमें आसक्ति-ममता नहीं रहती । इसलिये अपने विचित्र मित्रको जब-जब कोई वस्तु दी तो बड़ी ही प्रसन्नतासे दी और भावातिरेकमें बोले—'नाथ ! तुम्हारी परीक्षा विचित्र है । सभी कुछ तुम्हारा, केवल तुम्हारा ही है ।' इसपर आगन्तुकने एक सूखी हँसी हँसी और जो धार्मिक पुस्तकें कमरेमें थीं, उनको माँगा । सभी वस्तुएँ एक कपड़ेमें बाँधीं तो एक बड़ी गठरी बन गयी और वह बोला—'बहुत-सी मूल्यवान् वस्तुएँ तुमने मुझको दी हैं । जब इनको लेकर मैं चला जाऊँगा तो तुम्हें पछतावा तो नहीं होगा ? सच-सच कहो ।' स्वामीजीने उत्तर दिया—'कदापि नहीं, तुम अपनी वस्तुएँ ही ले जा रहे हो । पछतानेका तो कोई कारण ही नहीं है ।' वह बोला—'अच्छा तो फिर वह गत्ता, जो भींतपर टँगा है, मुझे दे दो ?' वह भी गठरीमें बाँध दिया गया ।

अब कमरा खाली हो गया । वर्षा ऋतु थी । वर्षा बड़े वेगसे होने लगी और रात्रिके तीन बज गये । स्वामीजीके पास कौपीनके सिवा और कुछ न था । वह बोला—'एक वस्तु और । जो चश्मा तुम आँखोंपर लगाये हो, मुझे उसकी भी आवश्यकता हो सकती है ।' चश्मा भी उसको दे दिया गया । उसको जाँचकर कहा—'मेरे ठीक आ जायेगा ।' फिर बोला—'एक वस्तु और ।' स्वामीजीने उत्तर दिया 'जो चाहो माँगो । मेरा कुछ भी नहीं । सभी कुछ तुम्हारा है ।' तो उसने कहा कि 'जो कौपीन तुम पहने हो, वह भी दे दो ।' इससे स्पष्ट था कि श्रीराम ही उनकी परीक्षा ले रहे थे । स्वामीजीने कौपीनकी गाँठ खोली और उतारने लगे तो उसने कहा कि 'रहने दो, मुझे यह नहीं चाहिये ।' फिर उसने पूछा कि 'तुम मेरे साथ चल सकते हो ?' स्वामीजीने उत्तर दिया कि 'अवश्य, बड़ी प्रसन्नतासे ।' उसने उत्तर दिया कि 'इस समय नहीं, फिर किसी समय ।' और वह चलनेको उद्यत हो गया । इस समय मूसलाधार वर्षा हो रही थी । उसके एक हाथमें लालटेन और दूसरेमें पत्तोंकी छतरी भी । ताड़के डंडे-से बँधी गाँठ उसके कंधेपर थी । सीढ़ी उतरते समय वह बोला—'तुम मुझे क्या समझते हो । मैं विक्षिप्त नहीं हूँ, पागल नहीं हूँ ।'

स्वामीजीने उत्तर दिया—'तुम वही हो, तुम वही हो ।'

और भावके कारण इनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया । वह मित्र सीढ़ीसे उतरकर चला गया ।

स्वामीजी उसको विदा करके जब कमरेमें आकर बैठे तो इनकी समाधि लग गयी और बहुत दिन चढ़ जानेपर समाधि खुली । देखा कि इनके द्वारपर एक भीड़ एकत्रित हो रही है, जिनमें उनके भाई आनन्दराव भी हैं ।

प्रातःकाल दुग्ध तथा फल लानेवाले भृत्यने यह सूचना इन लोगोंको दी थी । ये समझे कि कमरेमें जो सामान था, उसको कोई चोर चुरा ले गया है । जब इन लोगोंने स्वामीजीसे पूछा कि 'चोरी कैसे हुई ?' श्रीस्वामीजीका उत्तर था कि 'एक रूपसे रामजीने चीजें दी थीं और दूसरे रूपसे वही ले गये ।' इस उत्तरसे उनको संतोष नहीं हुआ । तब स्वामीजीको रात्रिकी सारी घटना बतानी पड़ी । एक व्यक्ति बोला कि 'दुष्टकी खोज करके उसे पकड़ लेना चाहिये ।' स्वामीजीने कहा—'उसका दोष क्या है । उसका अपना माल था और वह ले गया । इसके लिये संसारमें कोई कानून नहीं, जिससे वह दण्डका भागी हो सकता है । वह कोई दुष्ट नहीं था, वे तो स्वयं ईश्वर थे ।'

श्रीस्वामीजीके भावको समझकर सभी मुसकराते हुए चले गये और मध्याह्नसे पूर्व ही श्रीआनन्दरावने फिर सभी सामान जुटा दिया और ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई कुछ भी ले ही नहीं गया ।

(२)

पंजाबके काँगड़ा प्रान्तका भ्रमण करते हुए श्रीस्वामीजी महाराज पठानकोट पधारे । सड़कके समीप ही एक मन्दिरका शिखर देखकर स्वामीजीने मन्दिरमें प्रवेश किया । पुजारीने महात्माजीको देखकर बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की । उनको बैठनेके लिये चारपाई दी तथा मीठा पेय पिलाया । साँझ हो गयी थी । स्वामीजीने पुजारीसे कहा—'रात्रिके विश्रामके लिये यदि कोई नितान्त एकान्त स्थान यहाँ हो तो ठीक होगा ।' पुजारीने उत्तर दिया कि 'मन्दिरके नीचे भूगर्भमें एक गुफा-जैसा कमरा है, जो बहुत समयसे प्रयोगमें नहीं आया, फिर भी एक रात्रिके निवासके लिये तो उपयुक्त हो सकता है । आइये, देख लीजिये ।' कई पत्थरकी सीढ़ियाँ उतरकर गुफाको देखा कि पृथ्वीतलसे पर्याप्त नीचे दस वर्गफुटका एक कमरा है, जिसमें छतके पास एक छोटी-सी शीशेके किवाड़ोंवाली खिड़की है, जिससे धुँधला-सा प्रकाश आ रहा है । ऐसा प्रतीत होता था कि वर्षोंसे स्थान झाड़ा नहीं गया; क्योंकि धरतीपर काफी धूल जम रही थी ।

पुजारीने एक पुरानी-सी चटाई ला दी, जिसपर श्रीस्वामीजीने आसन जमा लिया और वे प्रभुके ध्यानमें लीन हो गये । शरीरकी सुधि न रही । इस अवस्थामें कितना समय बीता, पता नहीं । लोगोंके आनेके शब्दसे इनकी वृत्ति नीचे उतरी और इन्होंने आँखें खोलीं तो देखा, पुजारीजी अपने दो मित्रोंके साथ हारमोनियम बाजा तथा तबला लेकर आ रहे थे । पुजारीके पास लालटेन और दूधसे भरा एक लोटा था ।

पुजारीजीके आग्रह करनेपर स्वामीजीने दुग्ध ग्रहण कर लिया । फिर पुजारीने कहा कि 'महाराजजी ! हम यहाँ कीर्तन-भजन करने आये हैं । इसलिये बाजा तबला लाये हैं ।' स्वामीजीने कहा—'बहुत अच्छा, मुझे आपके भजन-कीर्तन सुननेमें बड़ा आनन्द मिलेगा ।'

कमरेके बीचमें लालटेन रख दी गयी और ये तीनों मित्र स्वामीजीकी बायीं ओर सीढ़ियोंके नीचे बैठ गये । गाना आरम्भ हुआ । एक प्रसिद्ध संतका हिंदीका भजन था—

राम कहनेका मज़ा जिसकी जबाँ पर आ गया ।
धन्य जीवन हो गया चारों पदारथ पा गया ॥

अभी भजनका पहला अन्तरा ही समाप्त हुआ था कि गाना एकदम स्थगित हो गया । बाजा तबला सहसा शान्त हो गये । श्रीस्वामीजीने यह जाननेके लिये उनकी ओर देखा कि क्या हुआ, तो तीनोंको स्वामीजीकी दायीं ओर प्रकाशसे परे मुँह बाये भयभीत दृष्टिसे देखते हुए पाया । एक विषधर सर्प शनैः-शनैः स्वामीजीकी ओर बढ़ा चला आ रहा था । वे तीनों उछलकर खड़े हो गये और श्रीस्वामीजीसे भी आग्रहसे कहने लगे—'स्वामीजी ! उठो, यहाँसे चलो, हम आपको और स्थान दे देंगे ।'

स्वामीजी स्थिर और शान्त रहे । कहने लगे—'रामजी ! आप सर्पसे इतने भयभीत क्यों हो रहे हैं ? इस रूपमें प्रभु स्वयं दर्शन देनेको पधारे हैं । वे तो प्रेमसे तुम्हारा गान सुनने आये हैं । बैठ जाओ और कीर्तन करो ।'

पुजारी बोले—'महाराजजी ! यमके दूतके इतने समीप होनेपर गाना असम्भव है । हम तो चलते हैं और आपसे भी हमारे साथ चलनेकी प्रार्थना करते हैं ।'

स्वामीजीने कहा—'डरो नहीं, सर्प किसीको कुछ नहीं

कहेगा । गाते नहीं तो न सही, किंतु भागो मत । तुम्हें पता लग जायगा कि सर्प किसीको दुःख देना नहीं चाहता ।'

ये लोग बैठे नहीं । जैसे-जैसे सर्प स्वामीजीके समीप आता गया, वे घड़ीकी सूईकी भाँति सर्पकी पूँछकी ओर घूमने लगे । जब सर्प स्वामीजीके समीप आ गया तो इन्होंने कहा—'प्यारे रामजी ! डरते क्यों हो ? चले आओ ।' स्वामीजीके कपड़ेमें गुड़की डली बँधी थी । गाँठ खोलकर उसको सर्पके सम्मुख रखकर कहा कि 'आपके लिये मेरे पास तो यही भेंट है । कृपा करके ग्रहण करो ।'

सर्प गुड़की डलीके पास आ गया और अपनी दोधारी जिह्वासे उसको चाटने लगा और फिर आगे बढ़ा । अब सर्प और स्वामीजीका अन्तर केवल दो इंच ही होगा; किंतु स्वामीजी टस-से-मस न हुए, पत्थरकी मूर्तिकी भाँति निश्चल बैठे रहे । सर्पने इनके शरीरको स्पर्श नहीं किया, किंतु बाहरकी ओरसे इनके शरीरके साथ-साथ परिक्रमा करके बायीं ओर आ गया । जैसे सर्प बायीं ओर पहुँचा, वे लोग दाहिनी ओर आ गये । वे यत्नसे नागकी पूँछसे न्यूनतम एक गजके अन्तरपर रहे । अब सर्प सीढ़ियोंकी ओर चला और एक किनारेसे शान्तिसे ऊपर चढ़ने लगा ।

पुजारी घबराकर चिल्लाये—'महाराजजी ! चालीस सीढ़ियाँ होंगी और सर्प इतना धीरे चढ़ता है कि इसे ऊपर धरतीतक पहुँचनेमें घंटों लग जायँगे । तबतक हम तो यहींके रह गये और फिर इसका भी क्या पता कि यह मुड़कर गुफामें ही न आ जाये । हम तो मारे गये ।'

स्वामीजीने कहा—'डरो नहीं । सर्प एक किनारेसे चढ़ रहा है, तुम दूसरे किनारेकी ओरसे निर्भय चले जाओ ।' पुजारी तत्क्षण बोल उठे—'हममें इतनी हिम्मत नहीं । जितना आपमें हौसला (विश्वास) है, हममें नहीं ।' स्वामीजीने कहा कि 'अच्छा' मैं सीढ़ियोंके बीचमें खड़ा हो जाता हूँ और तुम मेरे और भीतके बीचसे निर्भय चढ़ जाओ । सर्प तो सामनेकी भीतके पास है ।' उन्होंने स्वीकृति दी तो स्वामीजी बीचमें खड़े हो गये । तब वे तीनों मित्र एकके पीछे एक तीन-तीन सीढ़ियोंपर कूदते हुए चढ़ गये । वे अपने साथ हारमोनियम तबलेके सहित लालटेन भी ले गये ।

श्रीस्वामीजी अब घोर अन्धकारमें घिर गये । चटाईपर अपने आसनपर बैठ गये और हाथोंसे सर्पकी चखी हुई गुड़की डलीको उन्होंने ढूँढ़ लिया । सर्पके रूपमें रामका प्रसाद था; इसलिये इन्होंने उसको मुखमें डाल लिया और आनन्दसे खाया । सारी रात्रि समाधिके आनन्दमें मग्न बैठे रहे ।

गुफाकी छोटी-सी खिड़कीके शीशोंसे जब प्रातःकालका प्रकाश आया तो इन्होंने देखा कि सीढ़ियोंमेंसे कोई व्यक्ति झुककर झाँक रहा है । ये पुजारी थे, जो यह देख रहे थे कि 'स्वामीजी जीवित तो हैं ।' स्वामीजीने मुस्कराकर उनकी ओर देखा तो वे रात्रिके दोनों मित्रोंके साथ गुफामें आ गये । वे इनके सामने बैठ गये और अचम्भेके साथ इनको देखने लगे । जब पुजारीकी दृष्टि उस स्थानपर पड़ी जहाँ गुड़की डली थी, तो उसको वहाँ न पाकर पुजारीने पूछा कि 'उस गुड़की डलीका क्या हुआ ?' स्वामीजीने कहा कि 'भगवान्‌का प्रसाद होनेसे मैंने खा लिया ।'

पुजारी बोले—'राम-राम, आप तो बड़े भयंकर पुरुष हैं ।'

स्वामीजीने उत्तर दिया कि 'मैं भयंकर पुरुष नहीं हूँ, मैं तो केवल प्रभुका बालक तथा दास हूँ ।'

श्रीस्वामीजी गुफा तथा मन्दिरसे निकलकर चल दिये । ऐसा होता है प्रभुसमर्पित जीवन !

सब भगवान्‌के शरीर हैं

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २ । ४१)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, प्राणिमात्र, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र तथा और भी जो कुछ भूतजात हैं, वे सब हरिका ही तो शरीर हैं; अतः सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करे ।

संक्षिप्त दीक्षादानविधि

(लेखक—श्रीरामस्वरूपजी शास्त्री, 'अमर' पुराणेतिहासाचार्य)

संसारमें दीक्षा-विहीन मानव नर नहीं, वानर-सा प्रतीत होता है। दीक्षित व्यक्तिके सम्पूर्ण कार्य-कलाप, जगहितकारी और स्थायी सुखप्रद होते हैं। दीक्षा देनेवालेका उत्तरदायित्व बड़ा कठिन है; क्योंकि कुपात्रको दी हुई दीक्षा दीक्षादाता गुरुके लिये दुःखदायिनी होती है। तभी शास्त्रोंमें कहा है—

राजा राष्ट्रकृतं पापं मन्त्रिपापं पुरोहितः।
भार्या भर्तृकृतं पापं शिष्यपापं गुरुर्वहेत्॥

दीक्षितका पाप दीक्षक गुरुको भोगना पड़ता है। अतः वंशपरम्परा और पात्रका ध्यान रखकर दीक्षा देनी चाहिये। दीक्षा देनेका संक्षिप्त प्रकार नीचे दिया जाता है। जिससे संक्षेपमें विधि-विधानानुसार दीक्षाकार्य सम्पन्न हो सके।

संक्षिप्त दीक्षाविधि निम्न प्रकार है—

दीक्षादाता यजमानको सविधि शुद्धजलसे स्नान कराये और यजमान शुद्ध-स्वच्छ वस्त्र धारण करके अपने दीक्षा-गुरुके सामने आसनपर आकर बैठे। आसनपर बैठनेके उपरान्त हल्दीसे रँगे हुए चावलोंको हाथोंमें दीक्षक और दीक्षाग्रहीता दोनों लेकर निम्नप्रकार स्वस्तिवाचन करें—

स्वस्तिवाचन मन्त्र—

हरिः ॐ—स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ (यजुर्वेद २५।१९)

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳪसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मानो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः। अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्। (यजुर्वेद २५।२१-२२-२३) सुप्रजास्त्वाय अथो जीव शरदः शतम्॥

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षᳪशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वᳪ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि। यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु। शान्तिः शान्तिः सुशान्तिर्भवतु। सर्वारिष्टशान्तिर्भवतु। (यजुर्वेद ३६।१७, २२)

इस शान्ति-पाठके उपरान्त यजमानको नूतन वस्त्र धारण करके यज्ञोपवीत तथा करधनी भी धारण करना चाहिये। इन वस्तुओंको पहिननेके पूर्व श्रीगुरु महाराज मङ्गल-मन्त्र बोलकर, अक्षतोंको अभिमन्त्रित करके वस्त्र, यज्ञोपवीत, करधनी आदिपर छिड़कें और इसके पश्चात् ही वस्त्र धारण करें और फिर आसन ग्रहण करें।

मङ्गलमन्त्र—

मङ्गलं भगवान् विष्णुर्मङ्गलं गरुडध्वजः।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलायतनो हरिः॥

तदनन्तर यजमानके दाहिने हाथमें गुरुदेव आम्र-पल्लवसे अथवा आचमनीके द्वारा जल-प्रदान करें और आचमन करावें। आचमनका मन्त्र यह है—

आचमन-मन्त्र—

आत्मतत्त्वाय स्वाहा।
विद्यातत्त्वाय स्वाहा।
शिवतत्त्वाय स्वाहा॥ (इति आचमनम्)

उपर्युक्त मन्त्रोंको क्रमशः एक-एक बार कहलाकर आचमन तीन बार करावें और फिर हाथ धुलावें और निम्न मन्त्र कहें—

हाथको शुद्ध करनेका मन्त्र—

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

इसके बाद आसन-शुद्धि करावें। आसन-शुद्धिका मन्त्र—ॐ पृथिवीति मन्त्रस्य मेरुपृष्ठ ऋषिः सुतलं छन्दः कूर्मो देवता आसनोपवेशने विनियोगः।

इतना मन्त्र कहकर जल गिरा दें और तत्पश्चात् पुनः जल-ग्रहण करें।

मन्त्र—

ॐ पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।
त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम्॥

इसको बोलकर आसनपर जल छिड़कायें और तत्पश्चात् दिग्बन्धन करायें और शिष्यके हाथमें जल दें। इसके अनन्तर भूत-शुद्धिके लिये निम्नलिखित मन्त्र बोलकर जलको ईशान कोणमें फेंक दें और शिष्यसे फिंकवा दें।

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भूमिसंस्थिताः।
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया॥

यह मन्त्र कहकर ईशानकोणमें जल छिड़कनेके बाद श्रीगुरुजी शिष्यसे कहें कि 'हे शिष्य! तुम ईशानकोणकी ओर देखकर शंकरजीका ध्यान करो।' इतना कहनेके उपरान्त पीले सरसोंको लेकर दसों दिशाओंका निम्नलिखित मन्त्रसे दिग्बन्धन करें—

मन्त्र—

प्राच्यां रक्षतु मामैन्द्री आग्नेय्यामग्निदेवता॥
दक्षिणेऽवतु वाराही नैर्ऋत्यां खड्गधारिणी।
प्रतीच्यां वारुणी रक्षेद् वायव्यां मृगवाहिनी।
उदीच्यां पातु कौमारी ऐशान्यां शूलधारिणी।
ऊर्ध्वं ब्रह्माणि मे रक्षेदधस्ताद् वैष्णवी तथा॥

इसे कहकर शिष्यके हाथमें फिर जल प्रदान करें और श्रीगुरु-महाराज, ब्रह्मगायत्री (ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्) पढ़कर, शिष्यको शिष्यके चारों ओर जलके फिरानेकी आज्ञा दें।

फिर हाथमें जल, सुपारी, अक्षत, द्रव्य लेकर संकल्प शिष्यसे करावें।

संकल्प—

ॐ अद्यैतस्य ब्रह्मणोऽह्नि द्वितीये परार्द्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तर्गते कलियुगे कलिप्रथमचरणे पुण्यक्षेत्रे, अमुकसंवत्सरे, अमुके मासे, अमुकपक्षे, अमुकतिथौ, अमुकवासरे, अमुकगोत्रोत्पन्नोऽमुकनामाहं अमुकशर्माऽहं सकलदुरितोपशमनार्थं ब्रह्मलोकावाप्तये दीक्षामन्त्रग्रहणकर्मणि कलशाधिष्ठितवरुणदेवता-गौरीगणेश-पञ्चदेवतादिपूजनपूर्वकं दीक्षाग्रहणं करिष्ये।

इसके बाद कलश-स्थापन करें और कलश-पूजन आदि करा लें। यह मन्त्र ही अक्षत-जल छिड़कते हुए बोलें कि—

मन्त्र—

कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्राः समाश्रिताः।
कुक्षौ तु सागराः सर्वे कलशाय नमो नमः॥

इसके पश्चात् पञ्चदेवतादिका पूजन करावें। फिर श्रीगुरु-महाराजके दाहिने पैरके दाहिने अँगूठेकी पूजा करायी जाय।

दायें पैरके अँगूठेको स्नान, चन्दन, कुङ्कुम, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, अक्षत आदि चढ़ाते हुए यह मन्त्र बोलें—

स्नानं समर्पयामि श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः। चन्दनं समर्पयामि। कुंकुमाक्तं द्रव्यं समर्पयामि। हरिद्राक्षतान् समर्पयामि। पुष्पं समर्पयामि। धूपं दीपं नैवेद्यं समर्पयामि, नमस्करोमि; श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः।

तत्पश्चात् शिष्यकी ओरसे गुरुदेव समर्पित-वस्त्रको लेकर, उस वस्त्रको शिष्यके सिरपर आच्छादित करें अर्थात् शिष्यके सिरपर वस्त्र ओढ़ा दें। अपना मुख गुरुदेव शिष्यके कानके निकट ले जाकर यथोचित षडक्षर-द्वादशाक्षर—आदि स्वाभिलषित सम्प्रदाय, धर्म, इष्टादिके मन्त्रोपदेशको तीन बार कहें तथा शिष्यके कानमें फूकें। इस प्रकार तीन बार करें।

तदनन्तर लोकाचारानुसार उत्तर-दक्षिण, लंबा वैतरणी कोड़वावें और उसमें जल दें तथा पूजन करें। तत्पश्चात् शिष्यसे कहें कि—

'यहाँ वैतरणीके तीरपर गो-दान करो; क्योंकि गौ साक्षी रहती है और वैतरणीसे पार करती है।'

संकल्प—

वैतरणीपारहेत्वर्थंकगोदानसंकल्पमहं करिष्ये।

इसके बाद गुरुजी खड़े होकर उपदेश दिये हुए मन्त्रका जाप करते हुए, शिष्यको पश्चिमसे पूर्व पार करा दें और फिर गुरु-शिष्य दोनों आसन ग्रहण करें। पुनः शिष्यसे संकल्प करावें और पूर्वकथित संकल्पमन्त्रमें यह जोड़ें—

'…अमुकद्वारा अहं मन्त्रग्रहणं कृतवान्। तस्य प्रतिष्ठाहेत्वर्थंक-गो-अश्व-गज-भूमि-स्वर्ण-यत्संख्यकपरिमितं श्रीगुरुहस्ते (हस्तयोर्वा) सम्प्रददे।'

तदनन्तर प्रसाद-सामग्रीमेंसे गुरु महाराज, स्वयं प्रसाद निकालकर शिष्यके हाथमें देकर कहें कि—'अब तुम मेरे मुख-

में इसे खिलाओ और मुझे खिलानेके बाद हाथ धोकर स्वयं खाओ।'

इतना हो जानेके उपरान्त गुरुदेव शिष्यको शुभाशीर्वाद दें।

मन्त्र—

स्वस्त्यस्तु ते कुशलमस्तु चिरायुरस्तु
गोवाजिरस्तु धनधान्यसमृद्धिरस्तु।
ऐश्वर्यमस्तु बलमस्तु रिपुक्षयोऽस्तु
वंशे सदैव भवतां हरिभक्तिरस्तु॥

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः (देवाः)। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु। इत्यादि।

तत्पश्चात् शिष्यको अपने धर्म-सम्प्रदायानुसार गुरु धर्मोपदेश करें। यथा—

'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथि-देवो भव। स्वाध्यायान्मा प्रमदः' इत्यादि। गृहस्थधर्म-पालनादिके विषयोंपर भी उपदेशादि दिये जा सकते हैं।

इसके बाद शिष्य उठे और गुरु आदि सम्मान्य वृद्धों, सगे-सम्बन्धियोंके चरण-स्पर्श करे और गीत-वादित्रादिसे मङ्गलोत्सव करा, श्रद्धानुसार समागत-सज्जनों और श्रीगुरुदेव-को भोजन करावे। यही 'दीक्षा लेने'की संक्षिप्त विधि है।

नेत्रज्योति-रक्षार्थ उपासना

[चाक्षुषोपनिषद्]

अब नेत्र-रोगका हरण करनेवाली, पाठमात्रसे सिद्ध होनेवाली चाक्षुषी विद्याकी व्याख्या करते हैं, जिससे समस्त नेत्ररोगोंका सम्पूर्णतया नाश हो जाता है और नेत्र तेजयुक्त हो जाते हैं। उस चाक्षुषी विद्याके ऋषि अहिर्बुध्न्य हैं, गायत्री छन्द है, सूर्यभगवान् देवता हैं, नेत्ररोगकी निवृत्तिके लिये इसका जप होता है—यह विनियोग है*।

चाक्षुषी विद्या

ॐ चक्षुः चक्षुः चक्षुः तेजः स्थिरो भव। मां पाहि पाहि। त्वरितं चक्षुरोगान् शमय शमय। मम जातरूपं तेजो दर्शय दर्शय। यथाहं अन्धो न स्यां तथा कल्पय कल्पय। कल्याणं कुरु कुरु। यानि मम पूर्वजन्मोपार्जितानि चक्षुःप्रतिरोधकदुष्कृतानि सर्वाणि निर्मूलय निर्मूलय। ॐ नमः चक्षुस्तेजोदात्रे दिव्याय भास्कराय। ॐ नमः करुणा-करायामृताय। ॐ नमः सूर्याय। ॐ नमो भगवते सूर्याक्षि-तेजसे नमः। खेचराय नमः। महते नमः। रजसे नमः। तमसे नमः। असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय। उष्णो भगवाञ्छुचिरूपः। हंसो भगवाञ्छुचिरप्रतिरूपः। य इमां चाक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति। न तस्य कुले अन्धो भवति। अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा विद्यासिद्धिर्भवति॥

ॐ (भगवान्‌का नाम लेकर कहे) हे चक्षुके अभिमानी सूर्यदेव! आप चक्षुमें चक्षुके तेजरूपसे स्थिर हो जायँ। मेरी रक्षा करें! रक्षा करें! मेरे आँखके रोगोंका शीघ्र शमन करें, शमन करें। मुझे अपना सुवर्ण-जैसा तेज दिखला दें, दिखला दें। जिससे मैं अंधा न होऊँ (कृपया) वैसे ही उपाय करें, उपाय करें। मेरा कल्याण करें, कल्याण करें। दर्शन-शक्तिका अवरोध करनेवाले मेरे पूर्वजन्मार्जित जितने भी पाप हैं, सबको जड़से उखाड़ दें, जड़से उखाड़ दें। ॐ (सच्चिदानन्दस्वरूप) नेत्रोंको तेज प्रदान करनेवाले दिव्यस्वरूप भगवान् भास्करको नमस्कार है। ॐ करुणाकर अमृतस्वरूपको नमस्कार है। ॐ सूर्यभगवान्‌को नमस्कार है। ॐ नेत्रोंके प्रकाश भगवान् सूर्यदेवको नमस्कार है। ॐ आकाशविहारीको नमस्कार है। परम श्रेष्ठस्वरूपको नमस्कार है। ॐ (सबमें क्रिया-शक्ति उत्पन्न करनेवाले) रजोगुणरूप सूर्यभगवान्‌को नमस्कार है।

'(अन्धकारको सर्वथा अपने अंदर समा लेनेवाले) तमोगुणके आश्रयभूत भगवान् सूर्यको नमस्कार है। हे भगवन्! मुझको असत्‌से सत्‌की ओर ले चलिये। अन्धकारसे

* तस्याश्चाक्षुषीविद्याया अहिर्बुध्न्य ऋषिः, गायत्री छन्दः, सूर्यो देवता, चक्षुरोगनिवृत्तये विनियोगः।

प्रकाशकी ओर ले चलिये । मृत्युसे अमृतकी ओर ले चलिये । उष्णस्वरूप भगवान् सूर्य शुचिरूप हैं । हंसस्वरूप भगवान् सूर्य शुचि तथा अप्रतिरूप हैं——उनके तेजोमय स्वरूपकी समता करनेवाला कोई नहीं है । जो ब्राह्मण इस चाक्षुष्मती विद्याका नित्य पाठ करता है, उसको नेत्रसम्बन्धी कोई रोग नहीं होता । उसके कुलमें कोई अंधा नहीं होता । आठ ब्राह्मणोंको इस विद्याका दान करनेपर——इसका ग्रहण करा देनेपर इस विद्याकी सिद्धि होती है ।*

जो सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, सम्पूर्ण विश्व जिनका रूप है, जो किरणोंसे सुशोभित एवं जातवेदा (भूत आदि तीनों कालोंकी बातको जाननेवाले) हैं, जो ज्योतिःस्वरूप, हिरण्मय (सुवर्णके समान कान्तिमान्) पुरुषके रूपमें तप रहे हैं, इस सम्पूर्ण विश्वके जो एकमात्र उत्पत्तिस्थान हैं, उन प्रचण्ड प्रतापवाले भगवान् सूर्यको हम नमस्कार करते हैं । ये सूर्यदेव समस्त प्रजाओं (प्राणियों)के समक्ष उदित हो रहे हैं ।

ॐ नमो भगवते आदित्याय अहोवाहिनी अहोवाहिनी स्वाहा ।

ॐ षड्विध ऐश्वर्यसे सम्पन्न भगवान् आदित्यको नमस्कार है । उनकी प्रभा दिनका भार वहन करनेवाली है, दिनका भार वहन करनेवाली है । हम उन भगवान्के लिये उत्तम आहुति देते हैं । जिन्हें मेधा अत्यन्त प्रिय है, वे ऋषिगण उत्तम पंखोंवाले पक्षीके रूपमें भगवान् सूर्यके पास गये और इस प्रकार प्रार्थना करने लगे——‘भगवन् ! इस अन्धकारको छिपा दीजिये, हमारे नेत्रोंको प्रकाशसे पूर्ण कीजिये तथा तमोमय बन्धनमें बँधे हुए-से हम सब प्राणियोंको अपना दिव्य प्रकाश देकर मुक्त कीजिये ।’ पुण्डरीकाक्षको नमस्कार है । पुष्करेक्षणको नमस्कार है । निर्मल नेत्रोंवाले——अमलेक्षणको नमस्कार है । कमलेक्षणको नमस्कार है । विश्वरूपको नमस्कार है । महीविष्णुको नमस्कार है ।’[1]

॥ कृष्णयजुर्वेदीय चाक्षुषोपनिषद् समाप्त ॥

---

* चाक्षुषी (नेत्र)-उपनिषद्की शीघ्र फल देनेवाली विधि

(लेखक——पं० श्रीमुकुन्दवल्लभजी मिश्र, ज्योतिषाचार्य)

नेत्ररोगसे पीड़ित श्रद्धालु साधकको चाहिये कि प्रतिदिन प्रातःकाल हरिद्रा (हल्दी) से अनारकी शाखाकी कलमके द्वारा काँसेके पात्रमें निम्नलिखित बत्तीसे यन्त्रको लिखे——

फिर उसी यन्त्रपर ताँबेकी कटोरीमें चतुर्मुख (चारों ओर चार बत्तियोंका) घीका दीपक जलाकर रख दे । तदनन्तर गन्ध-पुष्पादिसे यन्त्रका पूजन करे । फिर पूर्वकी ओर मुख करके बैठे और हरिद्रा (हल्दी) की मालासे ‘ॐ ह्रीं हंसः’——इस बीजमन्त्रकी छः मालाएँ जपकर चक्षुषोपनिषद्के कम-से-कम बारह पाठ करे । पाठके पश्चात् फिर उपर्युक्त बीजमन्त्रकी पाँच मालाएँ जपे । तदनन्तर सूर्यभगवान्को श्रद्धापूर्वक अर्घ्य देकर प्रणाम करे और मनमें यह निश्चय करे कि मेरा नेत्ररोग शीघ्र ही नष्ट हो जायगा । ऐसा करते रहनेसे इस उपनिषद्का नेत्ररोगनाशक अद्भुत प्रभाव बहुत शीघ्र देखनेमें आता है ।

८	१५	२	७
६	३	१२	११
१४	९	८	१
४	५	१०	१३

‘मम चक्षूरोगान् शमय शमय’

[1] ‘पुण्डरीकाक्ष’, पुष्करेक्षण’ और ‘कमलेक्षण’——इन तीनों नामोंका एक ही अर्थ है——कमलके समान नेत्रोंवाले भगवान् ।

प्राकृतिक प्राणायाम

[कुम्भककी महिमा]

(लेखक—श्रीगोकुलप्रसादजी गुप्त, संस्थापक एवं निदेशक विहार यौगिक एवं शारीरिक शिक्षण-केन्द्र)

'प्राणायाम' कुम्भकके जरिये, शरीरमें विकसित करनेका अर्थ शारीरिक शक्तिका विकास है। प्राकृतिक प्राणायाम सीखनेके लिये आपको कहीं दूर जानेकी आवश्यकता नहीं। इसकी शिक्षा, दीक्षा, मन्त्र आप प्रत्येक सोये हुए प्राणीसे ग्रहण कर सकते हैं और यदि आपने इसे समझ लिया तो बस, इसे अपने शरीरके अंदर विकसित कीजिये। आप अपने अंदर इसे विकसित कर अपूर्व आनन्द एवं शक्तिका अनुभव कर सकते हैं।

किसी भी सोये प्राणीको आपने देखा होगा और पाया होगा कि उस सोये प्राणीका सम्पूर्ण शरीर चेतना-विहीन एवं शिथिल हो जाता है। जब वह गाढ़ी निद्रामें रहता है, तब प्रकृति वायुरूपमें शरीरके भीतर प्रवेश कर इसके भीतरकी सफाई एवं नष्टप्रायः तन्तुओंको ठीक करती और शरीरको स्वस्थ रखती है। किंतु उन्हीं प्राणियोंको यह प्रकृतिका वरद-हस्त प्राप्त होता है, जिन्हें गाढ़ी निद्राका वरदान मिला हो; किंतु बहुत कम प्राणियोंको ऐसी सम्पूर्ण निद्राका आनन्द मिलता है। अधिकांश लोग सांसारिक बन्धनके कारण मायाकी प्रवञ्चनामें पड़कर इसके उपयोगसे या तो पूर्णरूपसे वञ्चित हो जाते हैं अथवा गाढ़ी निद्राका बहुत-ही कम—नगण्य-सा उपयोग कर पाते हैं और इसका फल आज संसारके सामने है; लोग चिरायु किसे कहते हैं, यह भूलते जा रहे हैं; किंतु प्राचीन भारत इसका प्रमाण है। यहाँ योग-साधकोंने प्राणायामका आश्रय लेकर संसारमें भारतको यह गौरव दिलाया था।

आइये, आज मैं आपको एक ऐसे प्राणायामसे अवगत कराता हूँ, जो करनेमें एकदम सहज है; किंतु जिसमें अलौकिक आनन्दका समावेश है।

आपने यदि किसी गाढ़ी निद्रामें सोये प्राणीको देखा है, तो आपने पाया होगा कि वायुका प्रवेश होनेपर उदर विकसित होता है और फिर जब वायु बाहर निकलती है तो उदरका संकोचन होता है। यही विकसित एवं संकुचित क्रियाका होना ही प्राकृतिक प्राणायाम है एवं इसी प्राकृतिक प्राणायामपर पूरे विश्वका जीवन-चक्र चल रहा है। इसके विपरीत होना ही जीवन-चक्रका टूट जाना है, जिसे लोग 'मृत्यु' के नामसे जानते हैं। अतः इस प्राकृतिक प्राणायामको पूर्णतया समझ लेनेका अर्थ है कि आप प्राणायामकी कुंजी पा गये हैं।

प्राणायाममें पूरक करते समय उदरादिको विकास देकर कुम्भकमें शान्त बनाना और रेचकमें संकुचित करना चाहिये। यही जीवनको सुरक्षित रखनेका साधन है। अन्यथा, इसके विपरीत करनेसे वही होगा जो जलके प्रवाहको विपरीत रोकनेसे होता है। किंतु जब कोई इंजीनियर जलको विपरीत चढ़ाना चाहता है, तब वह प्रथम एक बड़ा-सा ह्रद बनाकर उसमें जलके वेगको शान्त करता है, फिर यन्त्रके द्वारा उस जलको ऊपर चढ़ाना आरम्भ करता है। ठीक, इसी तरह साधकको अपने उदरको अपना ह्रद बनाकर प्रथम उसमें प्राणवायुके वेगको शान्त कर, फिर सुषुम्णाके यन्त्रमें शनैः-शनैः ऊपर चढ़ानेका अभ्यास करना चाहिये। उदरमें वायुको पूर्ण किये बिना सुषुम्णाका खुलना असम्भव है और सुषुम्णाके खुले बिना वायुको हठपूर्वक रोकना अपनी मृत्युको आप ही निमन्त्रण देना है। जिन्हें इसका पूर्ण ज्ञान नहीं, ऐसे ही साधकोंने प्राणायामको कलङ्कित किया है। इन्हीं दुराग्रही साधकोंने अपने अनुभव (जो अधूरा होता है)को जनतामें प्रचार कर जनताको योगमें भयभीत एवं विमुख कर दिया है, जिसका प्रतिफल एक किंवदन्ती बन गया है—जैसे 'देखा-देखी साधै जोग, छीजै काया बाढ़ै रोग'। किंतु यह भ्रामक है। मेरा तो दावा है कि योगको बिना देखे समझा ही नहीं जा सकता। किंतु शर्त है कि जिसका योग देखकर ग्रहण किया जाय, वह अवश्य ही कोई ढोंगी न होकर कार्यरूपमें अनुभवी योगी होना चाहिये। एक युग था जब कि भारत अपनी संस्कृतिके लिये सारे संसारमें अमरत्व प्राप्त किये हुए था, उस समयके भारतके स्नेहमय पुत्र-पुत्रियाँ देखा-देखी ही योगकी शिक्षा-दीक्षा

तथा मन्त्रमें पारङ्गत होते थे; क्योंकि उस समय जिनकी नकल की जाती थी, वे सच्चे योगी तथा मन्त्र-पारङ्गत लोग होते थे। उदाहरणके लिये, जैसे आजके इस भौतिक युग (माडर्न-युग) के पुत्र-पुत्रियाँ समयके पूर्व ही 'काम-कला'में प्रवीण हो जाते हैं। सच कहा जाय तो इसके लिये अभिभावक एवं माता-पिता ही गुरुका पद ग्रहण करते हैं। आनेवाले कलके कर्णधार, आजके बच्चेका छोटा रूप है और उस युगके निर्माता अभिभावकगण ही होते हैं। घरसे बढ़कर संसारका कोई भी विश्वविद्यालय नहीं है, जहाँ आनेवाले कर्णधारका निर्माण होता है। यही बात पहले योगके लिये सत्य थी; जिससे उस प्राचीन भारतको समस्त विश्वका गुरुत्व मिला था। योगमें 'प्राणायाम'की प्रधानता है और योगने शुद्ध आचार-विचार और व्यवहारको इस ऊँचाईतक पहुँचाया था कि इसको ग्रहणकर प्राणियोंने देवताका पद प्राप्त किया था।

जिस देशमें संयम, शक्ति, सौन्दर्य एवं सौजन्यकी कलियाँ चटक-चटककर सुन्दर सुगन्धित पुष्प बनते थे, आज उसी देशपर एक केवल असंयमपूर्ण कामदेवका ही राज्य रह गया है, जिसने नैतिक और आर्थिक दोनों ही ओरसे देशको पङ्गु बना दिया है। यह सब 'योग' की अवहेलनाका ही प्रतिफल है। भगवान् करें—पुनः भारत अपने प्राचीन गौरवको प्राप्त करे। यह तभी सम्भव है, जब मनुष्य अपनेको संयमित बनावे, आचार-विचारका पालन करे एवं अपनी शक्तिका विकास करे। इसके लिये उसे योगका सहारा लेना होगा, जिसके लिये 'प्राणायाम'-का जानना अत्यन्त आवश्यक है।

केवल कुम्भक

'केवल कुम्भक' उसे कहते हैं, जिसमें साधक पूरक एवं रेचक किये बिना ही 'कुम्भक' करने लगता है। इसकी विधि यह है कि प्राणवायु उठता हुआ 'हं' और लौटता हुआ 'स' का उच्चारण करता है। इन दो शब्दोंको 'अजपा-गायत्री' कहते हैं। 'अजपा' उसका नाम है, जिसका कोई इन्द्रिय भावनासे भी जप नहीं कर सकती। जो किसी भी इन्द्रियके द्वारा जपा जाता है, वह 'अजपा' नहीं हो सकता। अतः निरिन्द्रिय एवं भावनामुक्त होकर केवल आनन्दवृत्तिसे इस आनन्द-स्वरूपमें लीन हो जाना ही 'केवल कुम्भक' या 'अजपा-जप' है।

जप दो ही तरहसे होता है—(१) जिसमें इन्द्रियाँ और भावना मन्त्रके चक्रपर चढ़ जाती हैं और इनका अपना अस्तित्व 'मन्त्र-चक्र' में समाहित हो जाता है। (२) दूसरा जप वह है, जिसमें इन्द्रियाँ एवं भावनाके चक्रपर मन्त्र चढ़ जाता है और अपना अस्तित्व उसमें विलीन कर देता है। इसमें मन्त्रका कोई भी अस्तित्व नहीं रह जाता है।

अतः 'केवल कुम्भक'के साधकोंको मन्त्रके चक्रमें इन्द्रियों एवं भावनाओंको चढ़ा देना चाहिये, इससे सभी इन्द्रियाँ वही कहने लगेंगी, जो मन्त्र कहता है। मन्त्र कहता है कि 'मैं आनन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ। 'मैं दुःखसे सर्वथा रहित आनन्दात्मा हूँ। और मैं ही शक्ति एवं शिव हूँ।' यही तो मन्त्ररूपी पारससे इन्द्रिय एवं भावनारूपी लोहेका स्पर्श कराना है। इसके स्पर्श होते ही मनुष्य 'शिव' हो जाता है। यही 'अजपा-जप' है।

व्यायामकी धारणासे अजपाका अर्थ यह होता है कि 'स' यानी शक्ति और 'ह' अर्थात् 'मैं'। अभिप्राय यह कि 'मैं ही शक्ति-बलका समूह-केन्द्र एवं खजाना हूँ।' आप व्यायामकी भावनासे अपनी सभी भावनाओं और इन्द्रिय-समूहको अजपाके मन्त्र-चक्रपर चढ़ा दीजिये। इस तरह करते रहनेसे आप थोड़े ही दिनोंमें अपने अंदर शक्तिका विकास होता हुआ पायेंगे, जो प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आपकी शक्तिका कोष सुदृढ हो रहा है।

योगशास्त्र और तन्त्र भी यही कहता है कि प्राणवायु आपके अङ्ग-प्रत्यङ्ग—रोम-रोममें यह सूचित करता है कि 'मैं शक्ति हूँ, बल हूँ, ताकत हूँ, शिव हूँ एवं तुझे शक्तिका भण्डार एवं शिव बनाने आया हूँ।' पर प्राणवायुकी इस प्राकृतिक पुकारको आपने कभी सुना ही नहीं और सुना भी तो ध्यान नहीं दिया, जिससे पहरेदारके होते भी आपका सर्वस्व लूटा जा रहा है। और पहरेदारके बारंबार चेतावनीके बावजूद भी आपकी नींद नहीं खुलती एवं आप सोये पड़े हैं, तो इसमें पहरेदारका क्या दोष है। किंतु अभी भी यदि आप जाग जायँ तो आप पुनः अपनी खोयी हुई शक्तिका संचय कर सकते हैं।

अतः आइये, इस अमरशिलाका सहारा प्राप्त कीजिये। यहीं इस अमर-भूमिकी अमरशिला है। यहींपर मृत्यु अमर होती है। यहाँ आनन्द-स्वरूपका आनन्द असीम है। आइये, एक बार यहाँका भी आनन्दामृत-पान कीजिये। यह आपका

जन्मसिद्ध अधिकार है, जिसको भूलकर आप अपने पवित्र देशकी उपेक्षा ही नहीं करते, बल्कि मृत्युको गले लगाते जा रहे हैं ।

प्राणोंको दीर्घ बनानेके प्राणायामकी एक साधन-पद्धति

आप किसी शुद्ध पवित्र होमसे सुगन्धित खुले एकान्त कमरेमें जाकर समसूत्रमें खड़े हों । नासाग्रपर दृष्टि जमाकर जितनी लंबी आपकी बाँह हो, उतनी ही दूरीपर अपने सामनेकी दीवारसे पाँव जमाकर, अपने दोनों हाथोंकी हथेलियाँ उसपर रखकर, दीवारको पीछेकी ओर दबाते हुए शरीरमात्रकी स्नायुओंको तनतनाइये और दीर्घ एवं उच्च स्वरसे 'ॐ' का उच्चारण कीजिये । उच्चारणके साथ पेटको मेरुदण्डकी ओर खींचते जाइये और छातीको सामनेकी ओर फुलाते जाइये । इस तरह जैसे-जैसे 'ॐ'का उच्चारण दीर्घ एवं उच्च होता जाय, वैसे-वैसे ही उदर अंदर और छाती बाहर आती जाय । इस तरह 'ॐ'के उच्चारणको आप जितना ही दीर्घ बनाते जायँगे, उतना ही आपका प्राण दीर्घ होने लगेगा और जितनी तनतनाहट आपके स्नायुओंमें उत्पन्न होगी, उतनी ही आपके स्नायुओंमें 'ॐ'की ध्वनि गुंजरित होने लगेगी, जिससे आपके मन एवं इन्द्रियोंको अन्तर्लोककी प्राप्ति होगी । आप इस उच्चारणको तीन मिनटका दीर्घ बनाकर देखें तो यह आपको किस आनन्दलोककी सैर कराता है ।

फल—इस प्राणायामसे प्राण दीर्घ, बलिष्ठ, शक्तिशाली होता है । दिन-प्रति-दिन प्राणकी स्थिति आनन्दकी भूमिको पाने लगती है । मेरु-दण्ड, जो जीवनका मूल केन्द्र है, वह शुद्ध, बलिष्ठ और सीधा हो जाता है । सूर्य-चक्र मणिपूर फ्लैक्ससका विकास होकर दिव्य जीवन एवं दिव्य आकर्षणकी प्राप्ति होने लगती है । इससे आपके शरीर-मात्रकी स्नायु शुद्ध—पवित्र होकर आरोग्यता प्राप्त करेगी । आपके रक्तमें नयी कान्ति उत्पन्न होने लगेगी । कहाँतक कहें, आपके उच्चारण बंद करनेपर भी आपकी स्नायुओंमें 'ॐ'का नादानुनाद होता रहेगा, जिसकी मधुरता एवं रसिकतासे मन एवं इन्द्रियोंको अन्तर्मुखताकी प्राप्ति होने लगेगी, जिनके अन्तर्मुख होनेसे ही आपको निर्विकल्प भूमिकी प्राप्ति होगी । इस अभ्यासके कुछ ही दिन पूर्ण होनेसे आपका केवल कुम्भकका नादानुसंधान होने लगेगा, जो योगशास्त्रका मुख्य साधन है ।

आप इसको बिना किसी संदेहके केवल छः मास तक करके देखें कि आपको किस आनन्दकी प्राप्ति होती है । यह प्राणायाम आपके दोनों लोकके आनन्दको बढ़ानेका बहुत ही सुन्दर एवं उत्तम साधन है ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रार्थना और कामना

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो ।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे ॥

हे देव ! हे प्रियतम ! हे एकमात्र जगद्बन्धो ! हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणासागर ! हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम श्याम ! आपके चरणकमलोंका मेरे नेत्र कब दर्शन करेंगे ?

नन्दनन्दनपदारविन्दयोः स्यन्दमानमकरन्दबिन्दवः ।
सिन्धवः परमसौख्यसम्पदां नन्दयन्तु हृदयं ममानिशम् ॥

परम प्रिय श्रीनन्दनन्दनके चरण-कमलोंसे चूती हुई मकरन्दबिन्दुएँ मानो परम सुख-सम्पदाओंकी समुद्र ही हैं, वे सदा मेरे हृदयको आनन्दित करें ।

हम क्या थे, क्या हो गये ?

'है सब जीवोंमें एक आत्मचैतन्य नित्य परिपूर्ण महा।'
'है विश्व चराचर सबमें ही परमेश्वर एक विराज रहा॥'
'वसुधा है एक कुटुम्ब' सदृश एकात्मरूप जग सारा था।
भारत-जनका यह अनुभव था, भारतका यह प्रिय नारा था॥
'सब हों निरोग, सब सुख भोगें, सबका हित हो, सबका विकास।'
सबके मङ्गल-कल्याण-हेतु जीवनका बीते श्वास-श्वास॥
था क्षुद्र 'अहं', था सीमित 'स्व', था 'स्वार्थ' व्यक्तिगत त्याज्य जहाँ।
था विश्वरूपमें ईश्वरका दर्शन-आराधन नित्य यहाँ॥
'सब भूत सदा स्थित हैं हरिमें, भूतोंमें स्थित नित हैं ईश्वर।'
थी यही मान्यता जन-जनकी, सब कहते थे यों एकस्वर॥
एकात्मभाव था सहज, सभी थे सबका करते सुखविधान।
पावन रुचि यही प्रजाकी थी, यह था राजाका संविधान॥
हा! आज वही हम भूल गये अपना स्वरूप, अपने विचार।
छाया है इसीलिये हमपर यह घोर तमोमय अनाचार॥
है इतर प्राणियोंकी न बात, मानव मानवका शत्रु आज!
सर्वाङ्ग-नाशके हेतु सज रहा आज वही राक्षसी साज!!
हैं जाति, प्रान्त, भाषा, भू-सीमा, मजहबका ले क्षुद्र नाम।
खोकर विवेक, परिणाम भूल, कर रहा काम काले तमाम॥
भूले विद्वान सुविद्याको, नेतागण भूल गये स्वदेश।
भूले शिक्षा-अर्थी शिक्षा धारण करके विध्वंस-वेश॥
'अनुशासन' रहा न (न) रहा 'विनय', है रहा नहीं सौजन्य-लेश।
'उच्छृङ्खलता' आयी प्रचण्ड, धरकर 'स्वतन्त्रता'का सुवेश॥
नेता सब भूले स्वार्थ-हेतु निज रीति-नीति-सिद्धान्त-धर्म।
पद-पदपर दलबदली करते, करते छल-हिंसामय कुकर्म॥

नित बने जा रहे नये-नये दल-नीति-सैन्य-मत-संघ-वाद ।
बढ़ता जाता संघर्ष, कलह, हिंसामय आपसका विवाद ॥

कर दिये त्याग 'कर्तव्य', 'त्याग', ले लिये मात्र 'अधिकार', 'अर्थ' ।
अधिकार-अर्थ-हित हो प्रमत्त कर रहे आज भीषण अनर्थ ॥

उत्तेजित करके छात्रोंको, भोले लोगोंको अनायास ।
करवाते लूट-मार-हत्या धन-सम्पद्का बेहद विनाश ॥

लगवाते आग वाहनोंमें, भवनोंमें, मीलोंमें अबाध ।
पहुँचाते हानि निरर्थक अति कर रहे घृणित नीचापराध ॥

दुःखानल धधक उठा दूषित, है नहीं शान्ति-सुख किसी ओर ।
सबका जीवन विपन्न, छाया सबपर सबका संदेह घोर ॥

पहुँचाते दुःख परस्पर हैं, स्वाभाविक मानव-धर्म भूल ।
फूलोंके बदले बिछा रहे सबके पथमें हैं सभी शूल ॥

बढ़ रहे देशमें अन्न-कष्ट, दारिद्र्य, भुखमरी, दुःख-दाह ।
हम स्वार्थ-शराब पिये पागल, करते न तनिक परवाह आह !!

है स्वार्थ-रोगसे ग्रस्त, ले रहा राष्ट्रवाद अब ऊर्ध्वश्वास ।
खण्डित भारतको खण्ड-खण्ड करनेका चालू है प्रयास ॥

है मानवताका पतन घोर पशुता-दानवता रही जाग ।
अब रही-सही मानवतामें भी लगा रहे सानन्द आग ॥

है कम्पित होता हृदय देख इसका अति दुःखद कुपरिणाम ।
छायेंगे रोग-शोक भारी दैवी कोपोंसे अष्टयाम ॥

बुझ जायेंगे जीवन-दीपक, सब ओर कालका अन्धकार—
विस्तृत होकर, होगा दारुण नारकी यन्त्रणाका प्रसार ॥

मानव-जीवनकी असफलता, मानवताका यह दुरुपयोग !
हैं नरक भोगते रहे, ले चले नरकोंके ही विपुल भोग !!

× × × ×

आध्यात्मिक गुरु भारत ही था, भारतसे सब पाते प्रकाश ।
नीची भौतिकतामें पड़ चह कर रहा आज निज सर्वनाश !!

भस्मधारणका विज्ञान

(लेखक—श्रीपृथ्वीराज मालेराव)

स्नानके बाद तथा संध्योपासनाके पूर्व भस्म लगाना अनेक दृष्टिसे आवश्यक है। शैव, शाक्त तथा गणेशजीके उपासकोंमें तो भस्म लगानेका सर्वथा आवश्यक विधान है। वैष्णव तथा सूर्य आदिके उपासक भस्म लगाना केवल शैव तथा शिवका अनुसरण करनेवाले सम्प्रदायोंका विधान मानते हैं। इस कारण उनमें गोपीचन्दन, द्वारिकाकी मिट्टी या गोपीचन्दनके समान ही किसी अन्य वस्तुको स्नानके पश्चात् और संध्याके पूर्व धारण करना आवश्यक माना जाता है। वास्तवमें किसी प्रकारके होम-हवनोंके बाद उसकी विभूति लेना अपरिहार्य माना गया है। यह विभूति अर्थात् अग्निवीर्य भी भस्म ही है। अतएव भस्म लगानेकी विधिको किसी सम्प्रदायविशेषसे सम्बन्धित और इसीलिये संकुचित माननेका कोई कारण नहीं है। इसीलिये वैदिकमार्गके सभी अनुयायियोंके लिये इसका अवलम्बन करना उचित प्रतीत होता है। ब्रह्मचारियोंका अग्निकार्य, गृहस्थोंका नित्यका हवन या वैश्वदेव, उसी प्रकार उपासना, हवन तथा अग्निहोत्रियोंके इष्टि तथा यज्ञ-याग, क्रतु, मख, अध्वर—इन सबकी पूर्णता प्रसादके रूपमें विभूति-ग्रहणसे होती है। विभूति (भस्म) अग्निका सत्त्व है तथा अग्नि उपासकोंको श्रद्धा, प्रज्ञा, यश, विद्या, बुद्धि, श्री, बल, आयु, तेज एवं आरोग्य प्रदान करती है। इसीलिये भस्म धारण करनेसे उपासकोंको उपासनामें तथा इहलौकिक जीवनमें यश-प्राप्ति करनेके लिये आवश्यक अनुकूलताके साथ-ही-साथ दैवी गुणोंकी प्राप्ति होती है। हवनके बाद मस्तक (ललाट), कण्ठ, नाभि, दाहिने कंधे, बायें कंधे तथा सिर—शरीरके इन भागोंपर विभूति लगायी जाती है। उसे लगानेके समय जिस मन्त्रका उच्चारण किया जाता है, उससे स्पष्ट होता है कि जमदग्नि, कश्यप, अगस्त्य आदि महान् ऋषि-मुनियों एवं अन्य देवी-देवताओं आदिके अकालमृत्युका निवारण तथा दीर्घ-आयुकी प्राप्ति इस विभूतिके कारण हुई है। तात्पर्य यह है कि भस्मके बहुमूल्य गुण-धर्मको देखते हुए शास्त्रोंने सर्वथा तथा सबके लिये इसे लगानेका निर्देश दिया है और यह उचित ही कहा जायगा। भस्मके इस अमूल्य गुणधर्मका वैज्ञानिक परंतु सूक्ष्म एक कारण और दिखायी देता है। वह यह कि भस्मका लेप करनेसे प्राणशक्तिका क्षरण रुकता है। जिस प्रकार प्राणायामसे दीर्घश्वास लेनेकी क्रिया आयुकी वृद्धिमें सहायक होती है, उसी प्रकार प्राणशक्तिकी रक्षासे आयुमें वृद्धि होना भी स्वाभाविक है। शाब्दिक दृष्टिसे भी 'क्षरण' तथा 'रक्षण'की प्रक्रियाएँ परस्पर विरोधी दिखायी देती हैं।

शैव एवं शाक्त पुराणों तथा आगमोंमें विविध कथाओं-द्वारा भस्मके माहात्म्यका वर्णन किया गया है। तथापि जिज्ञासुओंका समाधान केवल शास्त्रीय दृष्टिकोणसे ही होनेके कारण भस्म लगानेकी क्रियाकी ओर इस दृष्टिसे संक्षेपमें विचार करना होगा। परंतु यह निरीक्षण सूक्ष्म, अन्तर्मुखी दृष्टि तथा अतीन्द्रिय होनेके कारण उसका विज्ञान भी अभौतिक स्तरका होगा। इस प्रकार इसे देखनेपर यह शास्त्रानुकूल दिखायी देगा, ऐसी आशा है।

स्नानके बाद भी बिना भस्म, गोपीचन्दन, द्वारकाकी मृत्तिका अथवा गङ्गाजीकी मिट्टी लगाये पूरी शुद्धि नहीं होती। ये सभी पदार्थ लगभग समानधर्मी हैं। भगवान्की पूजा और हवन आदिके पूर्व कुङ्कुम और श्रीचन्दनका तिलक लगाना आवश्यक माना गया है। ये पदार्थ संध्याके पूर्व न भी रहें तो भी काम चल सकता है; परंतु संध्याके समय भस्मादि उपर्युक्त पदार्थ लगाना अत्यावश्यक है। भस्म लगानेका संकल्प उच्चरित करते समय 'शरीरशुद्ध्यर्थं' कहनेसे यह स्पष्ट होता है कि स्नानसे आरम्भ किया गया शुद्धिकार्य आचमन, प्राणायामके बाद अन्तमें भस्मधारण करनेसे पूर्ण सम्पन्न होता है। भस्म लगानेके पीछे इसका निश्चितरूपसे और भी सूक्ष्म हेतु दिखायी देता है। योगशास्त्रमें मूलाधारसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रतक अनेक चक्रोंका वर्णन है। उनमें मुख्यतः छः चक्र अथवा पद्म बताये गये हैं। मूलाधार, नाभि, हृदय, कण्ठ, भ्रूमध्य तथा ब्रह्मरन्ध्र—क्रमशः उनके स्थान हैं। स्नानके बाद उपर्युक्त सभी स्थानोंपर भस्म लगानेका विधान है। इन सभी स्थानोंका भस्मधारणके मन्त्रमें उल्लेख किया गया है। इसके पीछे रहस्य यह है कि भस्म लगानेके प्रभावसे उपर्युक्त स्थानोंके चक्र सचेतन या जाग्रत् होने लगते हैं। ये चक्र अत्यन्त सूक्ष्मरूपमें हैं, इस कारण स्थूल दृष्टिसे इन्हें देखा नहीं जा सकता। स्थूल शरीर जिस प्रकार अन्नमय कोष है, उसी प्रकार

उससे सूक्ष्म, सुसूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम और भी चार अतिरिक्त कोष हैं। स्पष्टतया उन कोषोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हमारी प्रज्ञा एवं दृष्टिका उसी अनुपातमें सूक्ष्म तथा अन्तर्मुखी होना अभीष्ट है। प्राणशरीर अथवा सूक्ष्म या प्राणमय कोषमें ये चक्र स्थित रहते हैं। प्राणमय शरीरमें सर्वत्र फैली हुई बत्तीस हजार नाड़ियाँ हैं। स्थूल शरीरकी रक्तवाहिनी नाड़ियोंके समान ये नाड़ियाँ प्राणवायु-वाहिनी हैं। इनमें इडा, पिंगला तथा सुषुम्णा—प्रमुख नाड़ियाँ सभी चक्रोंमेंसे मार्ग निकालती हुई जाती हैं। सार यह है कि स्थूल शारीरिक क्रियाओंका परिणाम सुसूक्ष्म एवं मानसिक हो सकता है और उसीके विपरीत मानसिक-क्रियाओंका परिणाम शरीरपर होता है। इसलिये मनोविज्ञानके इस कथनके अनुरूप और उससे भी आगे जाकर प्राणविज्ञानसे स्पष्ट पता चलता है कि स्थूल क्रियाओंका परिणाम सूक्ष्म और प्राणिक और इस प्रकार इसके उल्टे क्रमसे होता है। उपर्युक्त सभी कोषोंसे यह क्रिया-प्रतिक्रियाका कार्य अबाधगतिसे चलता रहता है। इसी कारण धर्मशास्त्रमें बतायी गयी विधिद्वारा स्थूल तथा स्थूलेतर ऐसी हितकारक क्रियाएँ की जा सकती हैं। यह शास्त्रीय रहस्य होनेके कारण प्रस्तुत विषयभरके लिये इतना कहा जा सकता है कि स्थूल भस्मके लगानेसे सूक्ष्मचक्र कार्यरत हो जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि इन चक्रोंकी जाग्रतिसे उपासकमें एकाग्रता तथा प्रत्याहार आदिकी भूमिका उत्तरोत्तर उन्नत होती जाती है। यह कहना ही पड़ता है कि इसके सिवा दूसरा कोई चारा नहीं। तात्पर्य यह है कि भस्म लगानेकी स्थूल क्रिया बाह्य-विधि होनेपर भी परिणामकी दृष्टिसे सूक्ष्मतया उपकारक है। यह निर्णय होनेपर वह निश्चितरूपसे महत्त्वपूर्ण, विज्ञानपूर्ण है और इसीलिये स्वीकार्य है।

दूसरी बात यह भी है कि शरीरके रोमकूपों या सभी छिद्रोंपर भस्म लगानेसे प्राणायामकी 'कुम्भक' नामकी क्रियाकी साधना करनेमें बहुत अंशोंमें सहायता प्राप्त होती है; क्योंकि प्राणवायुको अंदर रोकनेका जो 'अन्तःकुम्भक'का हेतु है, वह भस्मके लेपद्वारा छिद्रोंके बंद हो जानेसे वायुके अंदर रह जानेके कारण स्वयं पूरा हो जाता है; यह मर्म जिज्ञासुओंके ध्यान देने योग्य है। अब एक उदाहरणसे हम इसे स्पष्ट करेंगे। एक खपरैलके घरसे अदृश्य रूपसे भले अल्प मात्रामें हो, खपरैलके छिद्रोंके छोटे-बड़े होनेके अनुसार घरका धुआँ निकलता रहता है, केवल बड़े छिद्रों या चिमनीसे धुआँ अधिक परिमाणमें बाहर जाता है। उसी प्रकार शरीरके पर्वस्थान प्राणवायुके लिये चिमनीके समान हैं। इसलिये यदि हम सब अङ्गोंको बंद करनेमें असमर्थ हैं, तो भी संधि-स्थानों या जोड़ोंपर भस्मका लेप अवश्य करना चाहिये। साधारण तौरसे भस्मधारणकी विधिमें इसी प्रकार किया जाता है।

विधिके अनुसार तैयार की गयी भस्मका उपयोग करना अधिक अच्छा है। किसी भी राखको उठाकर शरीरपर लगानेकी अपेक्षा नियमके अनुसार तैयार की गयी भस्म अधिक उत्तम होती है। उपासनाकी दृष्टिसे गायके गोबरके भूमिपर गिरनेसे पूर्व ऊपर-ही-ऊपर मन्त्रपूर्वक उठाकर, उसके उपले बनाकर मन्त्रयुक्त विधिसे जो भस्म तैयार की जाती है, वह विधियुक्त है। इस प्रकारकी भस्ममें कपूर, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्योंका चूर्ण मिलानेका भी शास्त्रमें उल्लेख है। इस सुगन्धित भस्मका उपयोग करने मात्रसे ही पसीने एवं देह आदिकी दुर्गन्धका अनायास नाश हो जाता है। इस प्रकारकी भस्म दक्षिण भारतके कुछ मन्दिरोंमें अभी भी तैयार की जाती है। उदाहरणके लिये हम मैसूर राज्यमें स्थित स्वामीकार्तिकेयके मन्दिरका उल्लेख कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त अग्निहोत्र, विरजाहोम एवं विभिन्न यज्ञ-यागकी भस्म भी ग्रहण करने योग्य है। इनके अतिरिक्त कुछ तीर्थ-स्थानोंमें 'स्वयंभू-विभूति'का भी सेवन किया जा सकता है। गाणगापुरके पास जो भस्मकी पहाड़ी है, उसकी विभूति बहुत पवित्र मानी गयी है। अत्यन्त प्राचीन कालमें श्रीपरशुरामजीने जो बड़े-बड़े अखण्ड यज्ञ किये थे, उन्हींके अवशेष ये भस्मके बड़े-बड़े ढेर हैं, ऐसी मान्यता है। हजारों वर्षोंतक ऋतुओंकी विचित्रताका निरन्तर आघात सहते हुए भी यह भस्म अपने स्थानसे न हिलकर, न बहकर और न मिट्टी बनकर नष्ट हुई है। यह वैसी ही बनी रही, यह उसकी विशेषता है। इसी प्रकार पुराण-प्रसिद्ध गोदावरीतीर-स्थित श्रीकालेश्वर (आन्ध्रप्रदेश) में भी 'स्वयंभू भस्म' मिलती है। इसका कारण चाहे कुछ भी हो, परंतु उपासकोंको महत्त्वपूर्ण, पवित्र तथा शास्त्रसम्मत यह भस्म अवश्य लगानी चाहिये। उपर्युक्त सूक्ष्म विज्ञानको दृष्टिमें रखकर भस्म लगाना बाह्य क्रिया होनेपर भी धीरे-धीरे तथा पर्यायसे परोक्षरीतिसे यह क्रिया आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक बनती है। इसके अतिरिक्त जीवात्माकी दिव्य 'कला'

भस्म लगानेकी पवित्र विधिसे स्वच्छ हो जाती है और इससे उपासकके आधिदैविक तेज तथा सामर्थ्यकी भी वृद्धि होती है। नियमानुसार तैयार की गयी भस्म रोगनाशक भी सिद्ध हुई है।

सार यह है कि दीर्घ आयुकी प्राप्ति एवं ओषधिगुण इत्यादि भौतिक लाभ, ओजस्वी तथा प्रभावशाली बननेका दैवीलाभ तथा आन्तरिक उन्नतिके आत्मिक लाभको देखते हुए भस्म लगानेकी विधिसे यदि कुछ अल्प-सा लाभ भी हो तो भी उपासनाकी दृष्टिसे वह उपेक्षणीय नहीं है 'अपितु अवलम्बनीय है' ऐसा सभी दृष्टियोंसे कहा जा सकता है।

वामाचारमें प्रतीकोपासना

(लेखक—श्रीगोविन्दजी शास्त्री)

स्थूल बुद्धिसे भेद दिखता है, दिखना भी चाहिये; क्योंकि स्थूलमें परिच्छेद है, सूक्ष्ममें ऐक्य है। स्थूल इस संसारका व्यक्तिकृत रूप है। अतः उसका प्रभाव अनिवार्य है। अनिवार्य इसलिये भी है कि इस द्वैतके बिना अद्वैतकी कोई सत्ता नहीं, ज्ञातके बिना अज्ञातमें कोई आकर्षण नहीं। सभी प्राणी, जड-जङ्गम, एक विशाल, किंतु मनोरम सूत्रसे अनुस्यूत हैं, मोहावृत हैं और यह है—पराशक्ति मायाका प्रभाव जो इस समस्त चेतन-अचेतनको कर्म-व्यापृत रखती है। एक स्थितिके स्वीकारसे ही तीन स्थितियोंकी सत्ता हो जाती है। सत्त्वके अस्तित्वमें आनेपर विपरीत-गुणात्मक रजकी सत्ता सिद्ध हो जाती है और रजके उदयके साथ ही मध्यवर्ती तमका स्वरूप विनिश्चित हो जाता है एवं इस त्रिगुणात्मक जगत्‌में गतिमत्ता एक अपरिहार्य गुणके रूपमें समवेत हो जाती है। सभीको मोह-मायावृत हो जाना पड़ता है।

भारतीय दर्शन-परम्परा प्रतीक और निर्गुण माध्यमों-द्वारा चलती है। प्रतीकोंकी भिन्नताका यह अर्थ कथमपि नहीं होता कि ईश्वर कोई खण्ड-सत्य है अथवा तथ्य है, वरं ये सम्पूर्ण प्रतीक खण्डशः अथवा समग्रशः उसीकी रूप-परिकल्पना सिखाते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो ये उपासनाएँ भी पगडंडियाँ ही हैं, यह कर्म भी समर्पण होने-की उत्सुकता ही है; अन्यथा उस परमा स्थितिमें एकरूप हो जानेके बाद ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिविभता क्षीण या विलीन ही हो जाती है। इसके साथ ही यह भी ध्रुव है कि उस शिखरपर पहुँचनेके लिये मार्ग तो अपरिहार्य-रूपमें आवश्यक है ही। ये मार्ग मुख्यतया दो रूपोंमें हैं—वाम और श्रौत अथवा दक्षिण। वैसे तो शक्ति-साधना भी सगुण और निर्गुण दोनों रूपोंमें की जाती है; किंतु वामाचारके नामसे प्रचलित पद्धतिका 'वाम' शब्द भी प्रतिकूल अर्थमें बादमें प्रयोग किया गया है। 'वाम'का अर्थ 'प्रिय' होता है। वामलोचना, वामोरुमें यही वाम शब्द प्रियतर सौन्दर्यका द्योतक है। जिस पथके लिये वाम शब्दका प्रयोग किया जाता था, मूलमें उस पथके प्रियता-भूत उद्देश्यको ही व्यक्त करनेका आशय रहा था। वामाचारका अर्थ साधारणतया यह होता था कि वह पद्धति, जिसमें प्रिय और आकर्षक पदार्थों किंवा क्रियाओंका समादर किया जाता हो; क्योंकि काम प्राणीकी नैसर्गिक वासना थी और यह विसर्गोन्माद प्राणीकी प्रकृति थी। अतः उसके आलम्बन-उद्दीपनभूत पदार्थोंका प्रयोग प्रिय ही हो सकता था; किंतु कालान्तरमें इस प्रथामें उद्देश्य-हीनता और लक्ष्यकी उदात्तता नहीं रही, इसलिये वामका अर्थ प्रतीप हो गया। वामाचार धर्म-विरुद्धताका प्रतीक बन गया। इस कारण श्रौत-परम्परामें तो तपस्वियोंका व्यक्तिशः ही पतन हुआ था; किंतु वामाचारमें तो परम्पराका ही प्रायः पतन हो गया।

पाप और पुण्यकी कोई भी परिभाषा रही हो, किंतु जबतक हमारा चित्त उसमें लिप्त नहीं होता, शरीरद्वारा विहित क्रियाएँ चित्तकी वासनाद्वारा जबतक अनुप्राणित नहीं होतीं, तबतक कर्मबन्धन हमपर प्रभावी नहीं हो सकता। यही निःसङ्गता शाक्त-वामाचारका प्राण थी। जिस तरह लोकमें दो प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं, उसी तरह वाम और श्रौत-परम्पराओंमें भी विधिका अन्तर अवश्य है; किंतु उपलब्धिके रूपमें दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। दो भिन्न मार्गोंसे चढ़नेवाले अन्ततः पहुँचेंगे उसी शिखरपर; क्योंकि कैवल्यके अतिरिक्त दूसरा कोई लक्ष्य किसीके पास है ही नहीं।

दो तरहके व्यक्ति होते हैं—एक वे जो अपने धनको

गाड़ देते हैं । न स्वयं उसका उपभोग करते हैं, न करना चाहते हैं; उनकी कामना सदा यही रहती है कि उनका यह धन नित्य बढ़ता रहे । उस संचित कोषमें एक रुपया डालकर वे परम प्रसन्न होते हैं, उस सुरक्षित प्रकारमें उनका एक ही उद्देश्य होता है—वृद्धि और वृद्धि । इसके विपरीत दूसरे वे होते हैं जो अपने धनको बिखेर देते हैं, धंधेमें लगाकर उसे प्रसारशील बनाते हैं । उद्देश्य दोनोंका ही एक होता है—वृद्धि-प्रसार; किंतु एक अपने आपको सुखाकर पाता है, दूसरा फैलाकर । प्रथम संचय निरापद् है, दूसरा संशयों और शंकाओंसे घिरा हुआ । प्रथमको वृद्धिकी ही चिन्ता है, दूसरेको सतर्क भी रहना है । ठीक, यही स्थिति दक्षिण और वामाचारकी है । श्रौत-विधिमें इन्द्रिय-निग्रह है, अपरिग्रह और दम है; दूसरेमें युक्त भोग है । चान्द्रायण, कृच्छ्र-चान्द्रायण और इन्द्रियनिग्रहके द्वारा श्रौत-उपासना निर्विकल्पता तक पहुँचाती है तो पञ्चमकारोंका उपयोग करते हुए वामाचार कैवल्यपदका अधिकार प्रदान करता है । किंतु यह वामाचार दिखनेमें जितना सरल-सुगम और आकर्षक दीखता है, उतना कदापि है नहीं । श्रौत-विधिमें भोगका निग्रह करके योगका विधान है । शाक्त-विधिमें तो भोगमें ही योगबुद्धि करनी पड़ती है। अपनेको सर्वथा विदेहराजकी-सी स्थितिमें उतार देना पड़ता है । कितना बड़ा संतुलन वामाचारमें रखना पड़ता है ! यह तो साधक ही जान सकता है । भोग-जगत्में रहते हुए भी उनसे अछूते रहना कितनी बड़ी और दुरूह साधना है । सत्य और अस्तेय-जैसे सद्गुण तो उसमें भी आदरणीय हैं, किंतु इन्द्रियोंको कार्यशील बनाकर उनके अभिष्ठाताको अन्यत्र रखना क्या पद्मपलाशवत् निर्लेपताकी भीषण साधना नहीं है ! और ऐसी साधना सर्वतः सावधान रहे बिना क्या कमी सामञ्जस्य बनाये रख सकती है ? ऐन्द्रिय-तृप्तिके लिये तो वामाचारमें भी कोई स्थान नहीं है । यह हमारी स्थूल दृष्टिका ही परिणाम है कि हम एकको दूसरेसे भिन्न मानते हैं—ऊँचा-नीचा समझते हैं । भक्ष्याभक्ष्यका भी निर्णय प्रायः लोक-व्यवहारपर निर्भर करता है । जिस निस्सङ्गताको प्राप्त करनेके लिये श्रौतविधि दमनके द्वारा उपदेश देती है, वही निर्घृण और निर्भयताके रूपमें, प्रिय-अप्रियके भेद-नाशद्वारा वामपद्धतिका अभीष्ट है । योगमें योगबुद्धि रखना निरापद् हो सकता है, किंतु संसारके प्रेयोंमें रमते रहकर भी उनमें श्रेय-साधना रखना खाँडेकी धार है । भौतिक सिद्धियाँ वामाचारमें प्रथम सोपानपर आती हैं । अघोरी मतमें जो लोकातिशायी चमत्कार है, वह उसी पराशक्तिमें लीन होनेका सहज लक्षण है । आत्मख्यापनसे दूर प्रमत्त-से दिखनेवाले ये साधक इस सांसारिक विषयजालमें बद्ध होंगे—यह सोचना ही मूर्खता है । यही वह चौराहा है, जहाँपर ज्ञान और भक्तियोगका मिलन होता है । श्मशान और भव्य प्रासाद, सुस्वादु मिष्टान्न और दुर्गन्धिपूर्ण पदार्थ—दोनों एक-सी अवस्थामें आ जाते हैं । अहर्निश आत्मलीनताका आस्वाद लेते रहनेवाले ये साधक समाधिस्थ-से ही तो रहते हैं !

प्रारम्भमें दोनों ही किसी सीमारेखाको स्वीकार कर चलते हैं । एक विधिसे निषेधका अतिक्रमण करता है, दूसरा निषेधसे विधिका । यह अतिक्रमका क्रम ही भेद है । फिर तो 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' की स्थिति हो जाती है । वामाचारमें जगत्में व्याप्त सौन्दर्यका आस्वादन किया जाता है और उस अधिष्ठातृ-की प्रकृतिके रूपमें पूजा की जाती है । प्रकृतिमें विराट्का दर्शन होता है । जिस प्रकृतिमें सृजन है, वह माँके रूपमें, जिसमें विश्वका स्वादुतम आनन्द निष्यन्द प्रवाहित करनेकी योग्यता है उसे त्रिपुरासुन्दरीके रूपमें पूजा जाता है । जब उस शक्तिको सौन्दर्यका निधान और शक्तिका प्रतीक मान लिया तो समस्त ब्रह्माण्ड उसीमें और वह समस्त विश्वमें व्याप्त दिखायी देती है । इस विराट् दर्शनके बाद भेद किसमें रह जाता है ? समस्त योगोंका प्रवेशमार्ग यही तो है ।

'वेद तो क्षीरनिधि है'—आदिज्ञानके रूपमें प्रत्येक सम्प्रदाय और मतको सूक्ष्म अथवा विशद रूपमें इस ज्ञानराशिमें पाया जा सकता है । एकदेव-बहुदेववाद, साकार-निराकारकी प्रतिष्ठा तथा कर्म और निष्कामताके सारे भाव सूत्ररूपेण वेदमें निहित हैं । शाक्त किंवा वामाचार भी वेदनिषिद्ध नहीं है । वेदोंके प्रतीकोंको किसी भी अर्थमें ले सकते हैं । फिर भी इतना अवश्य है कि प्रकृति स्वयं प्रतीक है तथा प्रतीकोंके रूपमें ही व्यक्त होती है । जल जीवनको प्रतीक है; वायु प्राणका प्रतीक है । यह तो पाञ्चभौतिक किंवा सर्वव्यापक प्रतीकोंकी बात है । वैसे जिस भाषाके माध्यमसे हमारा अनुभव प्रवहमान होता है वह स्वयं अक्षरब्रह्मका प्रतीक है । इसी शब्द-राशिसे लौकिक और पारमार्थिक कार्य और व्यवहार होते

हैं। वेदोक्त अथवा आदिध्वनिके रूपमें सुविज्ञात प्रणव-मन्त्र इस संसारका रहस्य है। यह उसी शिवलिङ्गका प्रतीक है जिसे ब्रह्माण्डके पिण्डीकृत रूपमें पूजते हैं। इसकी आकृति भी उसी स्थितिकी प्रतीक है। योगमें वर्णित षट्चक्रोंके अनुसार भी ओम् (ॐ) का प्रारम्भ विशुद्धचक्रसे (कण्ठसे) होकर स्वाधिष्ठान (लिङ्ग) में पर्यवसित होता है। अतः शाक्तोंकी यह प्रतीक-कल्पना कोई विसङ्गति अथवा निराधार नहीं है और इस रूपमें उनकी स्वरूप-परिकल्पनाको हम गुह्य अथवा अपवित्र नहीं कह सकते। जिस नैसर्गिकताके पीछे संसारका प्रवाह अक्षुण्ण है, जो हमारे लिये स्पृहणीय आवश्यकताके रूपमें वर्तमान है, उसको घृणित समझना अथवा उसे दमित करनेके विधानमें कभी-कभी उग्र प्रतिक्रियाकी सम्भावना रहती है तथा इसके उदाहरण भी इतिहासमें विद्यमान हैं। (बड़े-बड़े तपस्वियोंने कामोन्मादमें बहकर अपना मार्ग छोड़ दिया); किंतु यह वामाचार ही था, जिसने उसे यथोचित प्रतिष्ठा दी, किंतु उसका ध्येय बदल दिया और ऐसी स्थितिमें पतनका तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

गायत्री-उपासनासे आध्यात्मिक उन्नति

(लेखक—श्रीबालाशंकर मगनलाल व्यास)

शब्दमें बल होता है। और जिस शब्दका प्रयोग उपासक बुद्धिपूर्वक करता है, उसमें विशेष बल होता है। शब्दसमूह अर्थात् मन्त्रमें उससे भी विशेष बल होता है; क्योंकि मन्त्रका प्रादुर्भाव मनकी समाहित अवस्थामें आत्माके द्वारा होता है। जिस ऋषिने मन्त्रका साक्षात्कार किया हो या जो मन्त्रका ऋषि हो, उसके तपोबल, ज्ञान और अनुष्ठानके आधारपर मन्त्रकी विशेषता निर्भर करती है। गायत्री मन्त्रका मूल वेद है और इसके ऋषि विश्वामित्र हैं। इससे इस मन्त्रकी विशेषता बहुत हो जाती है।

गायत्री-उपासनामें दो लाभ हैं। एक तो संसारकी अनेक प्रकारकी विडम्बनाओंको दूर करनेमें यह सहायक होती है, और दूसरा लाभ यह है कि सांसारिक सुखोंको प्राप्त कराकर अन्तमें ज्ञान—ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिका मार्ग यह उन्मुक्त करती है। इस प्रकार यह उपासना मनुष्यको इहलोकमें सुख और अन्तमें मोक्ष प्रदान करती है।

उपनयन-संस्कार हो जानेपर, गुरुके द्वारा गायत्रीमन्त्र-की दीक्षा लेनेपर, संध्या-वन्दन आदि नित्यकर्म श्रद्धापूर्वक करनेसे गायत्रीकी उपासना सरल हो जाती है। ६ से ८ वर्षकी उम्रमें पुत्रको गायत्री-उपासना करनेकी टेव डालना माता-पिताका कर्तव्य है। ऐसा करनेसे युवावस्था आनेके पूर्व ही पुत्रकी मेधा शीघ्रतापूर्वक विकसित होगी। परिणाम-स्वरूप उसमें विद्याभ्यास और तर्कशक्ति, विचारशक्ति और वक्तृत्वशक्तिका समुचित प्रकाश होगा। प्राचीन कालमें ब्राह्मणके बालक छोटी उम्रसे ही गायत्रीकी उपासना करने लगते थे। इसका उदाहरण भागवतमें है। राजा परीक्षित्को शाप देनेवाला ब्राह्मण-बालक गायत्रीका उपासक था। गायत्री-मन्त्रमें बड़ी शक्ति है। इसी कारण उसकी उपासना जिस किसी मनुष्यको करनेका शास्त्रोंने निषेध किया है। रिवाल्वर या पिस्तौल-जैसे अस्त्र, चाहे जो आदमी धारण कर सकता हो, ऐसी बात नहीं है; इसके लिये सरकारसे लाइसेन्स लेना पड़ता है। इसी प्रकार संसारके सभी मनुष्य गायत्री-मन्त्रकी उपासना नहीं कर सकते। केवल सात्त्विक भाव-वाले, पवित्र, शुद्ध आचार-विचारवाले, संसारमें रहकर मोक्ष-प्राप्तिकी इच्छावाले और उपनयन-संस्कार प्राप्त करके संध्या-वन्दन आदि शुभ कर्म करनेकी वृत्तिवाले पुरुषके लिये गायत्री-उपासना करना युक्त है। स्त्रीके लिये गायत्री-उपासना करनेका निषेध है। तथापि यदि कोई स्त्री शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके गायत्रीकी उपासना करती है तो उसका जीवन सुखमय होनेके बदले दुःखमय हो जाता है।

गायत्री-उपासनाके दो भाग होते हैं। प्रथम भागमें मुख्यतः सकाम उपासना होती है और दूसरे भागमें निष्काम उपासना होती है। ये दोनों भाग सांसारिक मनुष्यके लिये लाभदायी हैं। संसारके रंगमञ्चपर पधारने-वाले जीवात्माको सांसारिक सुखोंकी जरूरत तो होती ही है; क्योंकि जबतक सुखकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक सुखविषयक वासना बनी रहती है। बल्कि संसारके सुखोंके द्वारा अल्प सुखका अनुभव होनेके बाद ही शाश्वत सुख यानी मोक्ष-सुखके लिये अभिलाषा जाग्रत् होती है।

जिसने बाल्यावस्थामें गायत्रीकी उपासना शुरू न की हो, उसे १५ से २० वर्षके बीचमें गायत्रीकी उपासना अवश्य प्रारम्भ कर देना उचित है; जीवनके इन वर्षोंमें सुप्त संस्कार जाग्रत् होते हैं और उनके अधीन रहकर माता-पिताके गर्भ-संस्कार तथा संगके संस्कार मिलकर एक हो जाते हैं; अथवा उनका परस्पर विलीनीकरण होता है। उसमें यदि उपासनाद्वारा पड़नेवाला संस्कार सजातीय हो तो वह पुराने संस्कारोंको अधिक बलवान् बनाता है और विजातीय हो तो उनके बलको क्षीण करता है। इस प्रकार दोनों ही रीतिसे गायत्री-उपासना मनुष्यको श्रेयके मार्गपर जानेकी प्रेरणा प्रदान करती है।

गायत्री-उपासना किस प्रकार की जाय, इस विषयमें महात्माओंके विभिन्न अनुभव हैं। शास्त्रकारोंने भी विभिन्न मार्ग बतलाये हैं; परंतु उन सबका सार यह है कि आधुनिक युगके अनुसार हमको सीधा और सरल मार्ग चाहिये, जिससे साधकके मनमें श्रद्धा, उमंग और आनन्द बना रहे। इसके साथ ही शारीरिक स्वास्थ्य और समयका भी विचार करना पड़ता है। इन सब बातोंपर विचार करके उपासनाका क्रम नीचे दिया जाता है।

प्रथमतः गायत्री-मन्त्रका अर्थ जान लेना जरूरी है। समझमें आने तथा याद रखने योग्य अर्थ इस प्रकार है—

ॐ—परमात्मा
भूर्भुवः स्वः—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग
तत्—वह
सवितुर्—भगवान् सूर्यनारायणका
वरेण्यम्—उत्तम
भर्गो—तेज
देवस्य—देवका
धीमहि—ध्यान धरता हूँ।
धियो—बुद्धिको
यो—जो
नः—हमारी
प्रचोदयात्—प्रेरित करे।

सार अर्थ यह है कि 'तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाले भगवान् सूर्यनारायण हैं। इन देवताके उत्तम तेजका हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धिको प्रेरित करे।'

इस शब्दार्थको ठीक-ठीक याद करते हुए गायत्री-जप आरम्भ करना चाहिये। प्रातःकाल ४ या ५ बजे उठकर शौचादिसे निवृत्त होकर नहा-धोकर, शुद्ध वस्त्र धारण करके पहले संध्या-वन्दन करे। उसके बाद गायत्री-जप करनेके लिये आसनपर बैठे। आसनमें पहले कुशासन, उसके ऊपर मृगचर्म या ऊनका आसन और उसके ऊपर लाल वस्त्रका मोटा आसन रक्खे। आसनका माप ३०" × ३०" हो तो बहुत अच्छा। पूर्वाभिमुख बैठे। सीधा होकर बैठे और सामने ही इष्टदेवकी मूर्ति या चित्र रक्खे। ऐसा न बन पड़े तो शिवालयमें जाकर शिवलिङ्गके ऊपर दृष्टि रक्खे, अथवा आकाशकी ओर दृष्टि रक्खे या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि रक्खे, अथवा आँखें मूँदकर हृदयमें मनको स्थिर करके जप करे। जो नियम बनावे, उसमें फेर-फार न करे। जबतक जप चले, ओठ तो हिले, पर पास बैठा हुआ मनुष्य उसे न सुन सके। जप करते समय जपके मन्त्रके अर्थपर ध्यान रक्खे। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'—इस पातञ्जलसूत्रके अनुसार जपकी श्रेष्ठता मन्त्रके अर्थकी भावना मनमें रखकर जप करनेसे प्राप्त होती है।

संकल्प और न्यास—इन दोनोंकी ही आवश्यकता है। अतएव संकल्प और न्यास भी करना चाहिये। संकल्पमें मुख्य आशय यह होना चाहिये कि यह जप 'भगवत्प्रीत्यर्थ' किया जा रहा है। गायत्री-मन्त्रका न्यास विभागवाला होना चाहिये। बहुत बड़े न्यासकी आवश्यकता केवल सकाम कर्मके लिये होती है। आसनके लिये पद्मासन या अर्द्धासन बैठनेमें अच्छा होता है। वह न बन पड़े तो सुखासनपर बैठे। जिस आसनपर बैठना हो उसपर जबतक जप पूरा न हो जाय तबतक बैठे; छोड़े नहीं। प्रारम्भमें पैर बदलनेकी इच्छा होगी, पैर दुखेगा, पर उसे सहन करके उसी आसनपर बैठकर जप करनेसे मनकी स्थिरता जल्द ही प्राप्त होगी। समयका क्रम महीने भरके लिये पहले ही निश्चित कर ले। पश्चात् तीन महीनेके लिये निश्चित करे और अन्तमें सदाके लिये समयका एक ही क्रम निश्चय कर ले। उदाहरणार्थ प्रारम्भमें एक घंटा जपका समय तीन महीनेतक चलावे, पश्चात् हर तीसरे महीने आधा-आधा घंटा बढ़ाता जाय। जप शुरू करते ही मन विचारोंमें दौड़ने लगता है; परंतु इससे निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है।

अधिकांश उपासकोंको इस प्रकारका अनुभव होता है। मनको समझानेसे विचार आना कम हो जायगा और जपकी एकाग्रता बढ़ती जायगी। माला रुद्राक्षकी हो और उसे गोमुखीमें रखकर फेरे। मालाके बिना भी जप किया जा सकता है; परंतु इसके लिये घड़ी सामने रखनी पड़ती है। माला हो तो उसकी एक निश्चित संख्या जप करनेका नियम बना ले। परंतु जल्दी माला पूरी करनेका आशय न रक्खे। शान्तिसे माला-जप हो तो बहुत लाभदायक है। जप करते समय देरतक नये-नये विचार मनमें उठें तो जप शुरू करनेके पहले रुद्रीके दूसरे अध्याय 'पुरुषसूक्त' का पाठ कर ले, अथवा रुद्रीके पहले अध्यायका एक मन्त्र 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' की एक माला कर लेनेके बाद जप शुरू करे।

ऐसा करनेसे मनमें दूसरे विचारोंके उठनेमें कमी आ जायगी और अन्तमें उनका उठना बंद हो जायगा। अखण्ड धूप और दीप जलाना उत्तम है। तथापि प्रतिदिनके जपमें इसका अति आग्रह न रक्खें। मुख्य आवश्यक है निश्चित समय, एक स्थान और एक आसनका होना। शिवालय या नदी, प्रिय स्थान, पर्वत या अपने घरके किसी एकान्त स्थानमें, जहाँ अनुकूल जान पड़े, जप करे। प्रातःकाल जपके लिये निश्चित किया हो तो जप करनेके पहले चाय, दूध या और कोई वस्तु न ले। एक वस्त्र ही पहनकर जप करना चाहिये। बंडी या कमीज नहीं पहनना चाहिये। शीतकालमें शाल ओढ़ लें, पर स्वेटर न पहनें। यह सारी बातें बेकार लगती होंगी, पर अनुभव करनेपर समझमें आ जायगा कि ये जपमें कितनी बाधक हैं। जप प्रारम्भ करनेके बाद मौनावलम्बन करना चाहिये और इशारा या हाथसे संकेत भी नहीं करना चाहिये।

प्रतिदिन कम-से-कम एक घंटा और अधिक-से-अधिक तीन घंटे जप करना चाहिये। इससे अधिक समयके लिये आग्रह न करे। इस प्रकार १२ वर्षका क्रम बनावे। १२ वर्षका समय कठिन है, परंतु यदि भगवत्कृपासे पार हो जाय तो जो आनन्द मिलेगा उसका अनुभव जप करनेवाले स्वयं करेंगे। १२ वर्षके समयमें धीरे-धीरे अनेक लाभ होंगे। वाणीमें बल आयगा, तर्कशक्ति तेज होगी, मेधाशक्तिका विकास होगा और काम करनेमें आलस्य न रहेगा। परंतु इन सब गुणोंका अधिक उपयोग करनेसे साधनमें कमजोरी आती है। इसलिये जैसे-जैसे जपके द्वारा शक्ति प्राप्त हो, वैसे-वैसे अधिक सावधानी बर्तना आवश्यक है। खासकर कम बोलना—व्यर्थ बात न करना, क्रोध न करना तथा कपट या तर्क आदिका त्याग करना। दूसरेकी वस्तु न लेना, लेनेकी इच्छा भी न करना। उद्यमसे जो प्राप्त हो, उसीमें संतोष करना।

यदि ऊपर लिखे अनुसार १२ वर्षतक औसतन दो घंटे रोजका जप होता रहे तो ऐसा समय आयेगा, जब मनकी पवित्रतामें वृद्धि होगी और बुद्धि तीव्र हो जायगी। मन शुद्ध होने और बुद्धि तीव्र होनेपर शास्त्रज्ञान समझने तथा गुरुके मुखसे ज्ञान सम्पादन करनेमें रस मिलेगा। बल्कि वह ज्ञान एक बार सुननेपर भी संस्काररूप हो जायगा अर्थात् मनमें दृढ़ हो जायगा। वाणीमें चपलता और तेजस्विता आनेसे लोकैषणाका नया भय पैदा होनेकी आशङ्का है। अतएव इस विषयमें सावधान रहनेकी आवश्यकता है। प्रतिदिन परमात्मासे प्रार्थना करे कि 'हे प्रभु! मुझको तुम सत्पथमें ले चलो'—अग्ने नय सुपथा! ऐसा भी हो सकता है कि विचारोंमें दृढ़ताके आ जानेसे कभी किसी समय उलटे मार्गपर चले जानेका भय उपस्थित हो जाय। इसलिये यदा कदा गुरुके समीप रहकर सांसारिक प्रश्नोंके योग्यायोग्य निश्चय करनेके विषयमें विचार-विमर्श करे। संसार इतना विचित्र और मोहकारक है कि वह अपनी जपद्वारा प्राप्त की हुई शक्तियोंको व्यर्थ करनेका हेतु बन जाता है। कभी धनकी लालच, तो कभी स्त्रीका आकर्षण तथा कभी यशकी इच्छा गायत्री-जपके उपासकोंको ऊपरसे नीचे ढकेल देती है। इसलिये इन विघ्नोंको याद रखना चाहिये।

जपकालमें अनेक दृश्य दीख पड़ते हैं। इससे जपकी एकतानतामें चन्द्रदर्शन और ताराकी या बिजलीकी झलक भी दीख पड़ती है। बल्कि सामने आनेवालेके मनकी बात जानना और भविष्यमें होनेवाली बातका विचार भी मनमें आ जाता है। परंतु इन सब बातोंसे तनिक भी संतुष्ट नहीं होना चाहिये। किसी-किसीको नाद भी सुनायी पड़ता है। परंतु इससे यह न समझना चाहिये कि हम साधनामें बहुत आगे बढ़ गये हैं।

असली समय तो दूसरे १२ वर्षका है, जिसमें जीवनकी पूरी परीक्षा होती है। आसन स्थिर हो जाय अर्थात् एक

आसनपर कम-से-कम तीन घंटे बैठकर जप हो सके तो जान लो कि अब प्राणायामका क्रम शुरू होता है। प्राणायामका अर्थ यहाँ यह है कि प्राणकी गति मन्द होती है। प्राण और विषयवासना दोनोंके संयोगसे मन बना है। मनोनाश या मनको वशमें करनेका सरल उपाय यह है कि इच्छाको कम करे और प्राणको शान्त या मन्द करे। दोनों कार्य एक साथ हों तो मनोनाश, मनको वशीभूत या मनकी एकाग्रता प्राप्त करनेमें सरलता होती है। इसलिये जप करनेवालेको मनमें जप करनेकी आदत डालनी चाहिये, जिससे प्राणको कष्ट न हो। सीधे (मेरुदण्डको सीधा रखकर) बैठनेसे प्राणकी गति नाभिस्थल तक जानेसे शरीरके स्वास्थ्यपर अच्छा असर पड़ता है। बल्कि मल-मूत्रकी शुद्धि होनेसे मनकी प्रसन्नता और एकाग्रता बनी रहती है। लंबे अरसेतक एक आसनपर बैठकर जप करनेवालेके प्राणकी गति 'नासाभ्यन्तरचारिणौ' तक चला करती है। मनकी शान्त अवस्था हो और जप चला करे, तब प्राण कदाचित् ही नाकसे बाहर एकसे दो इंच जाता है। बल्कि प्राणका आना-जानाका श्वासनलीके आसपास तक ही सीमित रहता है। यह स्थिति थोड़े ही समय तक रहती है, परंतु जितने अधिक समयतक यह दशा रहे, उतना ही अच्छा है। ऐसी अवस्थामें मन दूसरा कोई विचार नहीं करता और इससे आत्माभिमुखी होना प्रारम्भ हो जाता है, जो भविष्य उपासनामें सहायक बनता है।

इतने समयमें एक करोड़ गायत्री-जप हो जाना चाहिये। इससे मनका कल्मष धुल जायगा और चित्तशुद्धिका अनुभव होने लगेगा। संसारके सुखों और भोगोंकी ओरकी वृत्ति नीरस हो जायगी, मन बार-बार आत्माकी ओर जानेकी चेष्टा करेगा। जगत् मानो एक निश्चित किया हुआ दृश्य है, यह बात समझमें आ जायगी और अन्तःकरणके तरङ्ग शान्त होते जायँगे। परंतु इस वातावरणमें कभी जप छोड़नेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। अब बाह्य दृष्टि नहीं रहती। हृदयाकाशमें वृत्तियाँ स्थिर हो जाती हैं। प्रसङ्गतः जपद्वारा ही ध्यान होता जाता है। समय कितना निकल गया, इसका भी ध्यान नहीं रहता। कभी माला हाथमें रुक जाती है, तथापि मनसे जप होता रहता है। यही गायत्रीके उपासकका श्रेष्ठ समय है, जिसके परिणामस्वरूप आत्मज्ञान, परमात्माका व्यापक दर्शन और मनकी अखण्ड शान्ति अनुभवमें आती है। बाह्य प्रवृत्ति जनसमूहसे दूर रहनेका प्रयत्न करती है। एकान्तवास ही इसका गढ़ है। वह दूर-दूरसे दीखता है। जगत्का और समाजका हिताहित स्पष्ट समझमें आता है, तथापि वह एक द्रष्टाके समान निश्चेष्ट होकर देखा करता है। पाठक ! यदि तुम आत्माभिमुखकी इस दशामें इस प्रकार २४ वर्षतक गायत्री-जप कर लोगे तो स्वयं अनुभव करोगे और इसके आनन्दका मर्म समझमें आयेगा।

इसके बाद तो कालक्षेपका समय आता है। प्रारब्धके अनुसार शरीर चेष्टा करता रहता है और आत्मज्ञानका उदय भीतरसे होता है, जिसके द्वारा 'मैं शरीरसे भिन्न आत्मा हूँ और मैं सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हूँ।'—यह भावना दृढ़ होती जाती है। उपासनाका मुख्य फल यही है कि जिसकी उपासना करो, अपने समान ही वह तुमको बना दे। जो परमात्मा निर्गुण, निराकार, व्यापक, सदा एकरस और सच्चिदानन्दस्वरूप है, वह केवल उपासकके कल्याणके लिये प्रभातकालमें ब्रह्माके रूपमें, मध्याह्नकालमें रुद्रके रूपमें, और सायंकालमें विष्णुरूपमें तेजके द्वारा प्रेरणा प्रदान करता है। इसके लिये त्रिकाल-संध्या करना उपासकके लिये कल्याणप्रद है। अब मालाका नियम नहीं रहता। मन गायत्रीके विचार-सागरमें डूबा रहता है। कभी-कभी उपासक खड़ा हो या बैठा, सोता हो या घूमता-फिरता हो, अर्द्धनिद्राकी दशामें ऐसा जान पड़ता है मानो अनन्त विचारसागरमें पड़ा हुआ है। बहुधा आँखें खुली रहनेपर भी देखता नहीं, कानोंसे सुनता नहीं। ऐसा महापुरुष सदा परमात्माके अखण्ड स्वरूप-जैसे इस ब्रह्माण्डमें 'ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं' के समान समाता जाता है और अपने स्वरूपके मधुर स्रोतको मानो परमात्माके महासागरमें डुबोता जाता है, एक स्वरूपमें होता जाता है तथा अन्तमें—अन्त समयमें विलीन होता जाता है।

अन्त समयमें उपासककी वृत्ति अन्तर्लीन होती जाती है। मृत्युके आगमनकी सूचना पहले ही हो जाती है। इन्द्रियाँ मनमें लीन होती जाती हैं और मन प्राणमें लीन होकर प्राणद्वारा ऊर्ध्वगतिको प्रारम्भ कर देता है। नाभिसे हृदय और वहाँसे दोनों भ्रुकुटिके बीच होता हुआ वह ब्रह्मरन्ध्रकी ओर प्रयाण करता है। इस क्रियामें परमात्मा शिवस्वरूपमें उसके सहायक होते हैं। जीवनसे अधिक समयतक त्रिकाल संध्या करनेवालेको अन्तकालमें परमात्माके साकारस्वरूपमें चिन्तन किये हुए ये त्रिमूर्तिस्वरूप (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) परमात्मा अपने स्वरूपमें विलीन कर लेते हैं।

अन्तमें गायत्री-उपासनाके लिये कुछ अनुभवकी सूचनाएँ दी जाती हैं।

गायत्रीकी उपासनामें स्थान, आहार, सङ्ग और पवित्रता बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। स्थान स्वच्छ, पवित्र, एकान्त, शिवालय या नदी-पहाड़ या बाग-बगीचावाली जगहमें होना चाहिये। आहार सात्त्विक, शुद्धधनसे प्राप्त किया हुआ और पवित्र, शान्त तथा सात्त्विक भावनावाले व्यक्तिके हाथसे बना हुआ होना चाहिये। अल्प आहार करना चाहिये। प्रतिदिन साधु-संतोंका सङ्ग करना चाहिये और गीता, उपनिषद् या वेदान्तदर्शन-जैसे ग्रन्थोंका श्रवण या वाचन करना चाहिये। जप करते समय किसीको स्पर्श नहीं करना चाहिये। शुद्ध वस्त्र पहनना चाहिये और मौन धारण करना चाहिये। अवकाश मिले तो लोक-सेवा करनी चाहिये। अपने ऊपर कर्तव्यरूपसे आ पड़नेवाला उद्यम करना चाहिये और अपने भरण-पोषणका भार, जबतक दूसरा कोई स्वेच्छापूर्वक अपने सिर न ले, तबतक प्रतिदिन अधिक-से-अधिक आठ घंटे ईमानदारीसे उद्यम करना चाहिये।

परमात्मा हम सबको ऐसी उपासना करनेके लिये बल दें, यह प्रार्थना है। हरिः ॐ तत्सत्।

आद्याशक्ति

(लेखक—पं० श्रीबुद्धिनाथजी मिश्र, एम्० ए०, शास्त्री)

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

(तन्त्रोक्त देवीसूक्त १२)

पूर्णब्रह्मके ज्ञानको अपने सीमित मस्तिष्ककी परिधिमें आबद्ध करनेके लिये नश्वर जीव न जाने कबसे दर्शनके पृष्ठोंपर प्रयास करता रहा, परंतु उसकी बुद्धिकी अपूर्णता उस परमतत्त्वके ज्ञानके केवल एक अकिंचन अंशतक ही पहुँचकर निष्प्रभ हो जाती रही है। जिसे उसका पूर्ण ज्ञान हो जाता है, वह तुलसीके शब्दोंमें 'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।' 'शक्ति' शब्द भी एक ऐसा संदेहास्पद बिन्दु है जहाँ आकर अपनी-अपनी दृष्टिसे सभी परिभाषा देकर चले गये हैं, किंतु कोई उसका पूर्ण स्वरूप नहीं ग्रहण कर पाये। संसारकी किसी भी भाषामें कोई ऐसा शक्त्यर्थक शब्द नहीं है जो शक्ति शब्दके अर्थविस्तार तथा अभिव्यक्तिकी उत्कृष्टतामें इसकी समानता कर सके। विभिन्न प्रदेशोंसे आगत दर्शनार्थियोंकी तरह सभी विषयोंके विशेषज्ञ इस बिन्दुतक आये और अपने-अपने क्षेत्रकी विशेषताओंसे इसे समलंकृत करते हुए चले गये। वैशेषिकोंने इसे 'परमाणु' 'शक्तिर्द्रव्यादिस्वरूपमेव' 'सप्तपदार्थी' कहा तो भौतिकवादियोंने केवल 'बल' अर्थमें इसे लिया। बौद्धोंने इसे पूर्ण विद्या (प्रज्ञापारमिता) कहकर पुकारा तो, योगियों और रहस्यवादियोंने इसे परब्रह्म परमात्मातक जीवात्माको पहुँचानेमें सहायिका या साधनीभूता एक आध्यात्मिक शक्तिके रूपमें ग्रहण किया। इसी प्रकार रासायनिकोंने इसे 'सक्रिय अणु'के रूपमें, भौतिक वैज्ञानिकोंने 'ऊर्जा' या द्रव्यके निर्माणमें आवश्यक तत्त्व 'सक्रिय विद्युत्कण'के रूपमें, मनोवैज्ञानिकोंने मनपर प्रयुक्त होनेवाली उत्तेजनाके रूपमें, आदर्शवादियोंने 'चेतना'के रूपमें, साहित्यिकोंने 'कवित्वबीजस्वरूपः संस्कारविशेषः।' (—काव्यप्रकाश) के रूपमें, चार्वाकोंने 'स्वभावः पदार्थानां प्रतिनियतशक्तिः।'के रूपमें तथा और न जाने किन-किनने इसे किस रूपमें देखा।

परंतु यहाँपर हमारा अभिप्राय 'शक्ति'के सम्बन्धमें प्राचीन-कालसे दी गयी उस मान्यतासे है, जिसके सिद्धान्तपर एक अतिरिक्त दर्शनका आविर्भाव हुआ; जिस तत्त्वको ब्रह्माण्डकी सर्वोपरि सत्ताके रूपमें स्वीकृत किया गया है, जिस सच्चिदानन्दस्वरूपा स्वातन्त्र्यशक्तिको संहिताओंने नित्या, व्यापिनी, पूर्णा, स्वतन्त्रा, आनन्दा, कुण्डलिनी, अनाहता, दिव्या तथा माता आदि संज्ञा देकर परिभाषित करनेका प्रयत्न किया है, वह शक्ति महामाया, सृष्टिकी मूल प्रकृति, चित्शक्ति, चैतन्यस्वरूपा, आदिविद्या, पराशक्ति, सर्वेश्वरेश्वरी, बन्धमोक्षप्रदा आदिके नामसे विशेष-विशेष कार्योंके लिये अभिहित हैं। शाक्तग्रन्थोंमें शक्तिको वह परमतत्त्व माना गया है, जिसे पाश्चात्त्योंने 'आइडिया' या 'सुप्रीम गाड'के रूपमें स्वीकार किया है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ इस परमतत्त्वको माताके रूपमें देखा जाता है। वे सम्पूर्ण चराचरकी सृष्टि, पालन तथा संहार करनेवाली महाशक्ति हैं। ये 'सूत्रात्मा' हैं, अर्थात् सृष्टिकी सभी सत्ताओंको एकमें सम्बद्ध करके रखनेवाली तथा उन विशेष सत्ताओंमें भी सर्वदा विद्यमान रहनेवाली है। वे इस जगत्की 'प्राण' हैं। उनकी इस अवस्थाका प्रतिपादक 'हंसः' शब्द

है, जिस प्रकार श्वास-निःश्वासके द्वारा प्राण किसी व्यक्ति-विशेषमें स्थित रहता है।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।

(ध्यानबिन्दु० ६२)

उसी प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्तिके द्वारा ये भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें 'प्राण'के रूपमें स्थित हैं। ये माया हैं, जिसके कारण जगत्में अविद्याकी उत्पत्ति होती है—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥

बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।

(दुर्गासप्तशती १। ५५-५६)

कला, विद्या, राग, काल और नियति—ये पाँच इन्हींके 'कञ्चुक' हैं जो शिवतत्त्व और जगत्के बीच व्यवधान बनकर स्थित हैं। वे चित्को प्रकृतिमें अभिव्यक्त करनेवाली 'वाचक शक्ति' भी हैं और स्वयं चित्स्वरूपा होनेके कारण 'वाच्य-शक्ति' भी हैं। ईश्वरसे लेकर जीवतक सभी 'शक्ति' हैं—कोई असीम है और कोई सीमित। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें आत्मा-परमात्मा दोनोंको शक्ति ही माना गया है। यह पराशक्ति सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी माताके रूपमें स्थित 'ब्रह्म' है। 'योगिनी-तन्त्र'में वह स्वयं कहती है—

सच्चिदानन्दरूपाहं ब्रह्मैवाहं स्फुरत्प्रभम्॥

शिव और शक्ति

सृष्टिकी विवेचना करते हुए सांख्यने 'पुरुष और प्रकृति'—इन दो तत्त्वोंको जगत्का सर्वोपरि तथा परस्परापेक्षित तत्त्व माना है। शाक्तोंने भी अखिल विश्वकी सृष्टिके कारणके रूपमें 'शिव और शक्ति' दो तत्त्व माने हैं। एक द्रव्य है, दूसरा स्वरूप। यही दार्शनिक विचारधाराका वह महत्त्वपूर्ण चरण है जहाँसे 'द्वैतवाद'का श्रीगणेश होता है। परंतु शाक्तोंने शिव और शक्तिको चनाके दो दलोंका रूपक देते हुए उन्हें मायारूपी आवरणसे आवृत मानकर एक 'विशिष्टाद्वैत' मतका प्रतिपादन किया।

'स्कन्दपुराण'में शक्ति और शिवको शक्ति-शक्तिमान्‌का सम्बन्ध स्थिर करते हुए दोनोंके सम्बन्धको समवेत तथा अन्योन्याश्रित कहा गया है—

शक्तिः साक्षान्महादेवी महादेवश्च शक्तिमान्।

तयोर्विभूतिलेशो वै सर्वमेतच्चराचरम्॥

इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् शक्ति और शिवका समन्वित रूप है—

शक्ति शक्तिमदुत्थं तु शाक्तं शैवमिदं जगत्।

इन दोनोंका सम्बन्ध पंगु-अंधका सम्बन्ध है। जिस प्रकार चन्द्रिकाके बिना चन्द्रका कोई महत्त्व नहीं रहता है, उसी प्रकार शक्तिके बिना शिवका कोई अस्तित्व नहीं है। शिवलिङ्गको सर्वदा घेरकर बैठी हुई कुण्डलिनी, शिवकी श्वेत मूर्तिपर घनश्यामा कालीकी प्रतिमा—ये सब शिव-शक्तिके अनवरत सामञ्जस्यके प्रतीक हैं। स्कन्दपुराणके ही एक श्लोककी पंक्ति यों है—

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्त्या च विना शिवः॥

दोनोंका सम्बन्ध द्रव्य-गुणके सम्बन्धकी भाँति समवेत या शाश्वत है। 'भैरवयामलतन्त्र'में शिवको 'महाकाल' कहा गया है, जो अपनी शक्तिकिरणोंको 'वर्ष'के रूपमें बाँट देते हैं, जिसके कारण कालहीन, परम, अपरिवर्तनशील तथा पूर्ण अनुभूति भी समयके छोटे-छोटे वर्गोंमें विभक्त हो जाती है। इस मान्यताके अनुसार सूर्य-चन्द्र, षट् ऋतु इत्यादि सभी ईश्वरकी स्थूल, अपूर्ण तथा व्यष्टिगत शक्तियाँ हैं। 'ब्रह्मसूत्र'के प्रारम्भमें परब्रह्मके विशेषणके रूपमें यह पंक्ति 'निज-शक्तिभित्तिनिर्मितनिखिलजगज्जाल।' सृष्टिकी पृष्ठभूमिमें शक्तिकी महत्त्वपूर्ण भूमिकाकी ओर निर्देश करती है। इस प्रकार शिव और शक्तिके सम्बन्धकी उपमा रथके चक्रोंसे दी जा सकती है; क्योंकि इन्हींकी तरह वे दोनों भी परस्पर अवलम्बित हैं, परंतु जब तादात्म्यका प्रसंग आता है, तब उन्हें रथचक्रका रूपक न देकर द्रव्य तथा उसके गुणकी उपमा देना सर्वथा श्रेयस्कर है। शिव और शक्ति एक ही तत्त्वके विभिन्न रूप हैं, कोई ज्ञानस्वरूप है और कोई क्रियास्वरूप। कोई जड है तो कोई चेतन—

एक तत्त्व ही की प्रधानता, उसे कहो जड़ या चेतन।

(कामायनी)

शाक्तदर्शनके आधारभूत ग्रन्थोंमें जगत्की सभी पुरुष-सत्ताओंको शिवका सीमित तथा नश्वररूप माना गया है तथा सभी स्त्री-सत्ताओंको शक्तिका मूर्तस्वरूप।

शक्तिका मातृत्व

शाक्तोंकी दृष्टिमें 'मायाशक्ति' न कोई अचेतनतत्त्व है, न यथार्थ, न अयथार्थ और न यथार्थायथार्थ ही। यह अपनी दैवी अवस्थामें ब्रह्मके साथ सम्मिलित है, यद्यपि यह स्वयं ब्रह्म नहीं है। यह मायाशक्ति 'चेतना' के रूपमें सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त है। अतएव शाक्तोंके विचारमें वह जो कुछ देखता है, वह सब 'मातृतत्त्व' है; क्योंकि उसमें

'चेतना' अभिव्याप्त है। यह दैवी मातृतत्त्व सर्वप्रथम सांसारिक जननियोंके रूपमें प्राणीके सामने प्रकट होता है। पुनः धर्मपत्नीके रूपमें, तदनन्तर पुत्री (कुमारी) के रूपमें। यद्यपि 'शक्ति'के पुरुष और स्त्रीके रूपमें दो प्रकारके स्वरूप हैं तथापि तन्त्रोंमें उसका प्रमुख रूपसे पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीके रूपमें ही अधिक वर्णन किया गया है। 'महानिर्वाणतन्त्र'में (परि० ६) स्त्रीको शक्तिके रूपमें अङ्गीकार करते हुए तथा इसे देवीका प्रतिनिधि मानते हुए, इसे तीन भागोंमें विभाजित किया गया है—स्वकीया, परकीया एवं साधारणी। जहाँ शक्तिका वर्गीकरण भोग्या और पूज्याके रूपमें किया गया है, वहाँ भी स्त्रीसे ही इसका तात्पर्य है। 'सर्वोल्लासतन्त्र' में स्त्रीकी महत्ता बतलाते हुए कहा गया है—'स्त्रियो देवाः स्त्रियः प्राणाः।' एक सिद्ध शाक्तकी दृष्टिमें सम्पूर्ण जगत् स्त्री या शक्ति है। 'अद्वैतभावनोपनिषद्'में 'अहं स्त्री' वाक्य भी इस तथ्यका ही प्रतिपादक है। 'मार्कण्डेयपुराण'में समस्त विद्याओं और स्त्रियोंको परमाशक्तिका ही विशेष रूपसे अङ्ग माना गया है—

'विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु॥'
(दुर्गासप्तशती ११।६)

इस प्रकार स्त्रीको शक्तिका प्रतिनिधि माननेके कारण उसके प्रति तान्त्रिक साधकोंकी आदर-भावना उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। स्त्रीके पदतलको देखकर गुरुकी भाँति श्रद्धा-भाव रखनेका विधान किया गया।

'स्त्रीणां पदतलं दृष्ट्वा गुरुवद् भावयेत् सदा।'
(कुब्जिका,)

किसी तान्त्रिक ग्रन्थमें तो इतना तक कहा गया है कि यदि भूलसे किसी स्त्रीके प्रति कोई कटुवाक्य मुँहसे निकल जाय तो प्रायश्चित्तके लिये एक दिन व्रत-नियमपूर्वक उपवास रखना चाहिये। सामान्य व्यक्तियोंकी अपेक्षा तान्त्रिक लोग स्त्रीके देवत्वको अधिक पहचानते हैं। 'लिङ्गपुराण' अरुन्धति, अनसूया और शचीको देवीके ही विभिन्न अवतार मानते हुए कहता है कि 'जगत्की सभी सत्ताएँ—जिसमें स्त्रीत्वका अंश है—देवीके ही स्थूल स्वरूप हैं।' 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'में भी कुछ इसी प्रकारकी मान्यता दी गयी है। 'मुण्डमालातन्त्र'में देवी स्वयं कहती हैं कि 'जहाँ स्त्री (शक्ति) है, वहाँ मैं हूँ।'

सामान्यतः स्त्री-जातिको शक्तिका अंश माननेके फलस्वरूप तन्त्रदर्शनमें स्त्रीको साधक बननेका अधिकार नहीं दिया गया। वह गुरु हो सकती है, साधक नहीं। प्रत्येक शाक्त स्त्रीको शक्तिके एक विग्रहके रूपमें देखता है। अतः किसी भी अवस्थाकी स्त्रीके प्रति श्रद्धा तथा आदरभावना रखना उसके लिये आवश्यक है। 'कुलार्णवतन्त्र'का कथन है—

या काचिदङ्गना लोके सा मातृकुलसम्भवा।
कुप्यन्ति कुलयोगिन्यो वनितानां व्यतिक्रमात्॥

'कौलिकार्चनदीपिका'में आद्यतत्त्वोंकी विवेचना करते हुए विजयाको 'आद्यमद्य', अदरखको 'आद्यमांस', जम्बीर-फलको 'आद्यमीन', धान्यनिर्मित पदार्थोंको 'आद्यमुद्रा' तथा निजधर्मपत्नीको ही 'आद्याशक्ति' कहा गया है।

शक्तिका आकार

वस्तुतः उस पराशक्तिका न तो कोई रूप है, न गुण, न अवस्था, न लिङ्ग। वह अपरिसीम, इन छोटी-छोटी सीमाओंसे बिल्कुल परे है। 'नवरत्नेश्वर'के शब्दोंमें 'वास्तवमें वह देवी न तो पुरुष है, न स्त्री, न नपुंसक। वह परब्रह्मतत्त्वकी भाँति किसी भी सीमामें आबद्ध नहीं हो सकती।' 'यामलतन्त्र'में उल्लेख है—

नेयं योषिन्न च पुमान् न षण्ढो न जडः स्मृतः॥

'महाकालसंहिता' भी देवीको सभी लिङ्गविशेषोंसे अलग मानते हुए कहती है कि 'तुम सकल पदार्थोंका मूल स्रोत, अव्यक्त तथा अपरिमेय शक्ति हो।' वह 'सच्चिदानन्द-ब्रह्मस्वरूपा' होनेके कारण, एक अवस्थामें परमात्मस्वरूपिणी और निर्गुणा है तथा दूसरी अवस्थामें मायाके साहचर्य होनेके परिणामस्वरूप सगुणा भी है। इस प्रकार वह महा-मायाशक्ति मायाके अभावमें 'निर्गुणा' है और मायाके सांनिध्यमें सगुणा। मोटे तौरपर, सम्पूर्ण चराचरकी उस महाजननीके तीन आकार माने गये हैं—(१) 'पर', जिसे 'विष्णुयामलतन्त्र'के शब्दोंमें 'मातस्त्वत्परमं रूपं तन्न जानाति कश्चन।' के रूपमें अभिव्यक्त किया गया है। शक्तिके इस स्वरूपको कोई भी जान नहीं सकता है। (२) 'सूक्ष्म'; जो स्वरूप मन्त्रमें स्थित है। शक्तिके उस निर्गुण अमूर्त तथा निराकार स्वरूपको, चूँकि भक्त अपने हृदयमें ध्यान नहीं कर सकते, अतः इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये आभ्यन्तरिक चिन्तन-हेतु मन्त्रके साधार रूपमें वह महाशक्ति भक्तोंके सामने अभिव्यक्त होती है—

अमूर्तौ चित्तस्थिरो न स्यात्
ततो मूर्तिं विचिन्तयेत्॥

(३) 'स्थूल', यह उस ब्रह्मस्वरूपिणीकी सावयव आकृति है, जिसमें स्त्रीगत सभी अङ्गोंका वर्णन पुराणों, देवीस्तोत्रों तथा तन्त्रशास्त्रोंमें किया गया है। देवीका यह स्वरूप सर्वसाधारणकी पहुँचमें सुलभतासे आ जानेके कारण अधिक लोकप्रिय तथा प्रशस्त है। 'मार्कण्डेयपुराण'में देवीके इस स्वरूपका विस्तृत विवेचन किया गया है। अवस्थाविशेषके कारण देवीको दो प्रकारके रूप धारण करने पड़ते हैं—प्रथममें वह पूर्ण-शान्त तथा सौन्दर्यकी निधि है,[1] द्वितीयमें यह पूर्णरूपसे प्रचण्ड रौद्ररूपिणी है, जिसके मुँहसे निकली एक हुंकारसे समस्त दैत्यसेना क्षणमात्रमें भस्मीभूत हो जाती है।

'ललितासहस्रनाम'में उनके शान्त अवस्थामें स्थित अलौकिक सौन्दर्यका काव्यात्मक रीतिसे वर्णन किया गया है। विभिन्न स्तोत्रोंमें शक्तिके शारीरिक अवयवोंका नख-शिख-वर्णन इस प्रकार किया गया है, जिस प्रकार साहित्यमें किसी नायिकाका किया जाता है। उनके केश-पाश पुष्प-मालाओं तथा मणियोंसे सुसज्जित हैं। उनकी भौंह **'वदनस्मरमाङ्गल्यं गृहतोरणचिल्लिका ।'**; वक्षोज **'कामेश्वर-प्रेमरत्नमणिप्रतिफलस्तनी ।'**; कटि **'रत्नकिंकिणिकारम्य रशना-दामभूषिता'**; ऊरुद्वय **'कामेशज्ञातसौभाग्यमार्दवोरुद्वया-न्विता ।'** इसी प्रकार दाँत (१६ अक्षरके मन्त्रकी पत्रोंकी भाँति), नाक, कान, चिबुक, कपोल, पादद्वय (कमलकी शोभाको लजानेवाला) आदिका वर्णन किया गया है।

इसके विपरीत जब उस महाशक्तिके रौद्ररूपके वर्णनका प्रसंग उपस्थित होता है तो रोम-रोम सिहर उठता है। कोई सोच भी नहीं सकता है कि वही सौन्दर्यमयी शक्ति ऐसे भयानक रूपमें भी परिवर्तित हो सकती है। 'सप्तशती'के पृष्ठोंपर उनके इस रूपका चित्रण अधिक उत्कृष्टतासे हुआ है।

अवस्थाके अनुसार उनका वर्ण भी बदल जाता है। मुक्तिप्रदायिनीके रूपमें वे 'श्वेत' वर्णकी होती हैं। नर-नारी तथा राजाओंपर शासिकाके समय उनका वर्ण 'रक्त' होता है। धन तथा ऐश्वर्यकी स्वामिनीके रूपमें वे 'केशर'के रंगकी होती हैं। जब वे श्रृङ्गार या प्रणयकी अभिव्यञ्जनाके रूपमें अपना स्वरूप उपस्थित करती हैं तो उनका रंग गुलाबकी भाँति मधुर और आकर्षक होता है। परंतु जब वे विश्वकी संहारिणी बनती हैं तो उनका वर्ण मेघकी भाँति 'कृष्ण' हो जाता है। इसी प्रकार देवी अन्य कई वर्णोंको विविध कार्यके अनुसार ग्रहण करती हैं।

१. जिसकी 'पद्मपुराण'के अनुसार स्वयं विष्णु भी पूजा करते हैं।

शक्तिके विविध स्वरूप

वैदिक युगके अनन्तर जब पुराण-युगका प्रवेश होता है तो देवतत्त्वके समस्त भिन्न-भिन्न स्वरूप सिमटकर मुख्य रूपसे तीन सत्ताओंमें बँट जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन्द्र, कुबेर, मरुत्, वरुण सभी इन तीनोंके सामने लघुतर हो जाते हैं। ब्रह्माण्डके तीनों कार्य इन तीनोंके हस्तगत होते हैं—ब्रह्मा सृष्टि, विष्णु पालन तथा शिव संहार करते हैं। चूँकि कर्ताके पास समर्थार्थक 'शक्ति' रहनी आवश्यक है, अतः तीनों देवोंके साथ एक शक्ति सम्बद्ध कर दी गयी, जो उनकी शक्ति तथा स्त्री दोनों हैं। 'ब्रह्मा'की शक्तिको 'ब्रह्माणी', 'विष्णु'की शक्तिको 'वैष्णवी' तथा 'रुद्र'की शक्तिको 'रुद्राणी' संज्ञा दी गयी। ये तीनों देव अपनी-अपनी शक्तियोंसे अभिन्न हैं—

(१) शम्भुना तां परां शक्तिमेकीभूतां विचिन्तयेत् ।
(२) न विष्णुना विना देवी न हरिः पद्मजां विना ।
(३) आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो मुने ।

इस प्रकार विभिन्न प्रकारके कार्योंकी शक्ति होनेके कारण देवीके विभिन्न नाम पड़े। वस्तुतः वह महाशक्ति एक ही हैं, जिनको भिन्न-भिन्न संज्ञाओंसे पुकारा जाता है—

उमेति केचिदाहुस्तां शक्तिं लक्ष्मीं तथापरे ।
भारतीत्यपरे चैनां गिरिजेत्यम्बिकेति च ॥
दुर्गेति भद्रकालीति चण्डी माहेश्वरीति च ।
कौमारी वैष्णवी चेति वाराही च तथा परे ॥
(बृहन्नारदीय)

'मार्कण्डेयपुराण'का 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा ।' तथा विष्णुधर्मोत्तरका—

एकस्यैव समस्तस्य ब्रह्मणो द्विजसत्तम ।
नाम्नां बहुत्वलोकानामुपकारकरं शृणु ॥

इसके प्रमाणके रूपमें लिये जा सकते हैं। वे नित्या होनेपर भी धर्मकी ग्लानि तथा अधर्मके उत्थानके विरुद्धमें जब अवतार लेती हैं, तो विभिन्न नामोंसे पुकारी जाती हैं। इस संदर्भमें 'मार्कण्डेयपुराण'का एक श्लोक सर्वथा स्मरणीय है—

देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा ॥
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते ।
(दुर्गासप्तशती १ । ६५-६६)

'शैलानन्दतरङ्गिणी'के एक उल्लेखके अनुसार सरस्वती, दुर्गा, त्रिपुरसुन्दरी, अन्नपूर्णा और अन्य सभी देवियाँ साक्षात् ब्रह्मके ही विभिन्न अवतार हैं।

परंतु आगे चलकर ज्यों-ज्यों शैवदर्शनकी लोकप्रियता तथा विकास होने लगा, सृष्टिके तीनों कार्योंको ब्रह्मा-विष्णु-महेश इन तीन महत्तत्त्वोंमें न बाँटकर शिवको ही इन सबोंका केन्द्र माना जाने लगा। शिवको 'पञ्चकृत्यकारी' कहा गया, जिसके अनुसार 'सर्ग-स्थिति-संहार-तिरोभाव-अनुग्रह ये पाँचों पञ्चकृत्य उन्हींके हाथों सम्पन्न होते हैं। फलस्वरूप शक्ति भी 'शिवा' के रूपमें अधिक लोकप्रिय होनेके कारण सभी शक्तिपरक विशेषताओंका केन्द्र हो गयी। सती, उमा, पार्वती, गौरी आदि सभी संज्ञा तो शक्तिके लिये प्रयुक्त हुई ही, साथ-ही-साथ दस महाविद्याओंको भी 'शिवा' के रूपमें ही परिगणित किया जाने लगा। वे दस महाविद्याएँ हैं—काली, बगला, छिन्नमस्ता, भुवनेश्वरी, मातङ्गिनी, षोडशी, धूमावती, त्रिपुरसुन्दरी, तारा और भैरवी*।

संक्षेपमें शक्ति चन्द्रमाकी भाँति एक ही हैं, जो जलकी असंख्य लहरोंपर असंख्य रूपोंमें हमारे सामने प्रत्यक्ष होती हैं। 'देवीपुराण'के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उन महाशक्तिका एक अवयव मात्र है। जिस प्रकार वटके एक बीजमें शक्तिरूपमें बृहदाकार वट-वृक्ष विद्यमान रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण चराचर परमशिवके हृदयरूपी बीजके भीतर शक्तिके रूपमें वर्तमान है। यह सम्पूर्ण सृष्टि उस महामाया-शक्तिकी एक क्षणिक गतिमात्र है, इसीलिये इसे गत्यर्थक 'जगत्' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है। वह 'चित्-शक्ति' या 'आद्याशक्ति' अपने भक्तोंके हितके लिये मानवरूप धारण करती है। वस्तुतः वे ब्रह्ममयी हैं। ब्रह्मकी ही भाँति वे भी निर्गुणा, निरूपा होकर भी सगुणा और सरूपा हैं। यह इसलिये कि निम्नकोटिके साधक इनके इस रूपका ध्यान करके क्रमशः परम पदको प्राप्त कर सकें।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

उपासकोंके लिये कल्याणकारी सिद्ध अनुभूत बीसा यन्त्र

'उपासना-अङ्क'में प्रकाशनार्थ महान् लाभकारी अनुभूत सिद्ध बीसा-यन्त्र भेजा जा रहा है। इसमें विश्वकल्याणकी भावना निहित है। यह यन्त्र पहले स्व० श्रीशिवचन्दजी भरतियाके ग्रन्थ 'विचार-दर्शन'में प्रकाशित हुआ था, जो इस समय उपलब्ध नहीं है। अतः जनता-जनार्दनकी सेवाके लिये इसका प्रचार-प्रसार आवश्यक समझकर किसी महान् प्रेरणावश इसे लिखकर भेज रहा हूँ। आशा है 'कल्याण' के पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

यन्त्र इस प्रकार है—

यन्त्रकी शक्ति और अर्थका रहस्य

यन्त्रमें आये अङ्कों और अक्षरोंकी शक्ति इस प्रकार है—'ॐ'की महिमासे सारा भारतीय वाङ्मय भरा पड़ा है,

---

* 'सूतसंहिता'में शिवाको ही अनेक देवियोंकी भूमिका करती हुई बताया गया है—

लक्ष्मी नागादिरूपैषा शिवा खलु मुनीश्वराः। नर्तकीयानया सर्वमचिरादेव सिध्यति॥ (सूतसंहिता १३। ३५)

इसका जितना महत्त्व बतलाया जाय उतना ही थोड़ा है। 'ऐं' का स्थान—आकार कण्ठवत् है। कण्ठका उच्चारण-स्थान है। इससे वाणी-शुद्धि तथा 'परा' शक्तिका उत्थान-उदय होता है। 'ह्रीं'का स्थान—आकार हृदयवत् है। यह हृदय-शुद्धिकर है तथा इससे 'पश्यन्ती' शक्तिका उत्थान-उदय होता है। 'क्लीं'का स्थान—आकार नाभिवत् है। नाभि कुण्डलिनीका ग्रन्थि-स्थल है। इससे 'मध्यमा' शक्तिका उत्थान-उदय होता है और 'श्रीं'का स्थान—आकार मुख है। शब्द-ब्रह्म है। इससे 'वैखरी' शक्तिका उत्थान-उदय होता है।

अङ्कोंमें (१) जीव ब्रह्मके एकत्वका बोधक है। (१०) अनन्तत्वका, (९) नवनिधिका, (१४) चौदह भुवनोंका, बीचके भागमें 'ॐ'के चारों ओर; (७) व्याहृति, (२) अन्तर्बाह्य जगत्, (३) त्रिगुणात्मिका सृष्टि, (८) अष्टधा प्रकृति, (६) षड्विकार, (५) पञ्चभूत, (११) एकादश इन्द्रिय, (४) चारों पदार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका द्योतक है।

इसका सामूहिक अर्थ है—जीव-ब्रह्म एक है, उस ब्रह्ममें अनन्त निधियाँ, चौदह भुवनोंमें व्याप्त हैं। वही ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त एवं भासमान है। वह एकाक्षर ब्रह्म सप्तव्याहृति, अन्तर्बाह्यजगत्, त्रिगुणात्मिका सृष्टि और अष्टधा प्रकृतिसे आवृत है या इन सबमें अनुस्यूत है। उसी ॐका ध्यानमनन करनेसे षड्विकार नष्ट होकर पञ्चभूतोंपर सत्ता—अधिकार प्राप्त होता है, एकादश इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं तथा धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थ-चतुष्टयकी निश्चय ही सिद्धि होती है।

प्रयोग

उपासक किसी मोटे कागजपर सुन्दर ढंगसे मोटे अक्षरोंमें लिखकर सामने रख ले और उपर्युक्त भावनार्थका ध्यान करते हुए प्रतिदिन निश्चित समयपर ध्यान-पूजन करे। ऐसा करनेसे अवश्य लाभ होगा। मनोकामना पूर्ण होनेके साधन मिलेंगे। मुझे संवत् १९९६ मार्गशीर्ष मासमें २७ दिनोंके प्रयासमें चार बार स्वप्नद्वारा आदेश मिले थे और वे अति शीघ्र सत्य सिद्ध हुए थे। —एक अनुभवी

(२)

भगवत्-उपासना विफल नहीं जाती

आजसे बीस वर्ष पूर्वकी एक अद्भुत घटना है।

इन पंक्तियोंके लेखककी सप्तवर्षीया बालिका ज्वराक्रान्त हो रही थी। उसी समय मुझे भी श्वासरोगका दौरा आ गया। फलस्वरूप डालटनगंजसे राँची आना पड़ा; क्योंकि वहाँपर मेरे यजमानका घर था। आठ दिनोंतक सदर अस्पतालमें चिकित्सा करानेपर भी जब कोई लाभ नहीं हुआ तो कलकत्ताके लिये प्रस्थान किया। साथमें वही ज्वराक्रान्ता बच्ची तथा धर्मपत्नी भी थीं। मुरी जंकशनमें गाड़ी बदलनी पड़ती है। अतः मुरीमें हमारे साथ डालटनगंज-का एक ग्रामीण बालक भी कलकत्तेके लिये चल पड़ा। हवड़ामें हमलोगोंने शौच, स्नान एवं जलपान किया। वह बालक वास्तवमें भगवान्‌का स्वरूप ही था, जिसने आदर्श चमत्कारपूर्ण कार्य कर दिखाया।

हवड़ासे हमलोग ट्रामगाड़ीमें सवार हुए। हमारे साथ एक मूल्यवान् बक्सा तथा बिस्तर था। श्रीविशुद्धानन्द सरस्वती मारवाड़ी अस्पतालमें भर्ती होनेके विचारसे कालेज-स्ट्रीटके मोड़पर उतरना था। सर्वप्रथम इन पंक्तियोंका लेखक उतर गया और स्त्री तथा बच्ची भी; किंतु वह लड़का नहीं उतर सका, इसलिये कि ट्रामगाड़ी दो-तीन मिनट ही खड़ी होती है। लड़केके पास वह मूल्यवान् बक्सा तथा बिस्तर रह गया। यद्यपि रिक्सा करके ट्रामको पकड़नेका प्रयत्न भी किया, किंतु पार्क-स्ट्रीटतक ही दौड़ हुई। ट्रामगाड़ी तो पता नहीं, कहाँ चली गयी। अब क्या था ?

सियालदह स्टेशनके पास वापिस आकर निराश होकर बैठ गये। धर्मपत्नी रोने लगी। तभी किसी बंगाली सज्जनने कहा कि 'निकटवर्ती बहुबाजारमें एक मारवाड़ीका होटल है। आप वहाँ चले जाइये।' अतएव हमलोग वहाँ चले गये। उस गौड़ ब्राह्मण भाईने पहले तो भोजन कराया। तदनन्तर थानेमें डायरी दिलानेके हेतु ले जानेको विवश कर लिया, किंतु थानेदार साहबसे भेंट नहीं हुई। तथापि उस भाईने दस आने पैसे दिये और हमलोग चित्तरञ्जन एवेन्यू स्थित 'नन्दालय'में अपने दामादके यहाँ चले गये। वहाँसे विवेकानन्द रोडस्थ मेंहदीबागानकी कोठीमें अपने एक यजमानके घर गये। यजमान महोदयसे हमें सत्कार नहीं मिला, पर उनकी वृद्धा माताजीने दयार्द्र होकर पाँच वस्त्र एवं दो रुपये जबर्दस्ती दे दिये। हमलोग तत्काल वहाँसे चले आये, किंतु 'नन्दालय'में उस यजमान-माताने अपने नौकरके द्वारा भोजन भिजवाया। अतः भोजन इसलिये ग्रहण

कर लिया कि हमलोग लड़कीके यहाँ कैसे भोजन करते। अस्तु !

शामको चोरबागान थानेमें अपने दामादके साथ डायरी लिखवानेके लिये मैं गया। पूरे दो घण्टेतक बैठनेपर एक परिचित पुलिस अधिकारीने बड़ी कठिनतासे दामादके अनुनय-विनय करनेपर डायरी लिख ली। दूसरे दिन प्रातः-काल 'नन्दालय' से मारवाड़ी अस्पतालमें जाकर दोनों भर्ती हो गये। उस सप्तवर्षीया बच्चीकी हालत इतनी बिगड़ गयी कि मानो तत्काल ही प्राणपखेरू उड़ जायँगे; किंतु उसने पूरे आठ दिनोंतक उसी मरणासन्न अवस्थामें अपने प्राणोंको अटका रक्खा। डायरी लिखनेवाले सज्जनने किसी भी थानेमें रिपोर्ट नहीं दी। उधर उस सहयोगी बालकने कोयलाघाट थाना (हवड़ा) में वह मूल्यवान् बक्सा तथा बिस्तर जमा कराके प्राप्ति-स्वीकारकी रसीद ले ली। एक सप्ताहतक आसरा देखकर वहाँके दारोगा महोदयने आठवें दिन चौबीसों थानोंमें फोन किया। फलस्वरूप चोरबागानवाले पुलिस-निरीक्षकने उत्तर दिया कि 'हाँ, मेरे पास सुधाकर त्रिवेदीके नामकी डायरी है। अतः हम उन्हें सूचित कर देते हैं।' उसी समय दामाद साहबको सूचना मिली और उन्होंने नवें दिन प्रातः मुझे यह शुभ संवाद सुनाया कि आपका सारा सामान मिल गया है। कलकत्तेमें किसीका बहुमूल्य सामान खो जाता है तो प्रायः मिलता नहीं है; परंतु हमारा सौभाग्य था कि सामान मिल गया। जब हमलोग कोयलाघाट थानेमें गये तो हमारा सामान मिल गया। पुलिसने वहींपर अपना सामान निरीक्षण कराया। ६७) रुपये नगद एवं पाँच सौ रुपयोंका जेवर तथा एक हजार रुपयोंका कपड़ा था। बिस्तर भी सुरक्षित मिल गया।

अब बच्चीकी विचित्रताका हाल पढ़िये। जिस समय साँझके वक्त हमलोग सामान लेकर थानेसे अस्पताल पहुँचे, उसी रातको उसने स्वर्गको प्रस्थान किया। आठ दिनोंतक अपने प्राणोंको रोक लेना 'न भूतो न भविष्यति' वाली लोकोक्ति चरितार्थ करना है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व-जन्मका ऋणानुबन्ध चुकाकर बच्चीने प्राण छोड़े। जिस बालकने ट्रामगाड़ीमें छूटे हुए सामानको सुदूर कोयलाघाट थानेमें जमा कराया, वस्तुतः वह भगवान्का स्वरूप ही रहा होगा। इस कलियुगमें ऐसे ईमानदार बालक एवं ऋणानु-बन्धिनी बालिका कदाचित् किसी भाग्यवान् या भगवद्-उपासक व्यक्तिको ही उपलब्ध होते हैं। डायरी लिखनेवाले पुलिस-अधिकारीने हमारे दामादसे कहा था कि 'ऐसी ऊल-जलूल बातोंकी क्या डायरी लिखी जाय ? भला कलकत्तेमें खोया हुआ सामान किसीको मिला है ? उस लड़केको तो बिना प्रयास सामान मिल गया है, वह क्यों प्रकट करेगा। खैर, आप मेरे परिचित मित्र हैं, इसलिये लिख लेता हूँ।' उस भले आदमीने आठ दिनोंतक लिखित डायरी गुप्त रक्खी; किंतु भगवान्की ऐसी इच्छा नहीं थी। 'बाँह गहे की लाज' तो सर्वशक्तिमान् भगवान्को रखनी ही पड़ती है। क्या ईश्वरोपासना व्यर्थ जा सकती है ? इस संदर्भका तात्पर्य आत्माभिमानका उद्घोष नहीं, प्रत्युत यह सिद्ध होता है कि भगवान्के भरोसेपर जीवन बितानेवालेकी भगवान् समय-समयपर रक्षा करते हैं और उसका भरण-पोषण भी करते रहते हैं। —सुधाकर त्रिवेदी, पुजारी

(३)

भगवान् शालिग्रामकी उपासनासे भयानक प्रमेह रोगका नाश

मैं अपने सम्मान्य श्रीवैद्यजीके पास बैठा था। वे एक ब्राह्मण-युवकका डेढ़ वर्षसे इलाज कर रहे थे, पर उसके रोगमें किंचित् भी कमी नहीं हो रही थी। कारण यह था कि वह युवक ओषधि-सेवनके समय संयमका पालन नहीं कर पाता था। इसके लिये उसने स्पष्ट अपनी असमर्थता प्रकट कर दी थी। उसे भयंकर प्रमेह था। बहुत सोच-विचारकर अन्तमें वैद्यजीने उसे शालिग्रामजीकी सेवा बतायी, जिससे तीन मासमें उसका रोग सर्वथा निर्मूल हो गया। बादमें और लोगोंने भी इसका प्रयोग किया तथा वे सफल हुए। प्रयोगकी विधि इस प्रकार है—

एक शालिग्रामजीकी कृष्णवर्णकी शिला लावे (नयी मिल जाय तो सर्वोत्तम है)। उन शालिग्राम भगवान्को प्रतिदिन पाद्य, अर्घ्य, आचमन करवाकर पञ्चामृतसे स्नान करावे। पञ्चामृतमें शुद्ध गोदुग्ध दो छटाक, दही एक छटाक, शुद्ध शहद एक तोला, गोघृत तीन माशे और शुद्ध देशी शक्करका बूरा एक तोला हो। इस पञ्चामृतसे स्नान करानेके बाद शुद्ध जलसे स्नान करवाकर श्रीशालिग्रामजीको सिंहासन-पर विराजित कर दे। स्नान कराते समय—

अमृतांशूद्भवो भानुः शशबिन्दुः सुरेश्वरः।
औषधं जगतः सेतुः सत्यधर्मपराक्रमः॥

विष्णुसहस्रनामका यह ४४ वाँ श्लोक—बार-बार बोलता जाय। भगवान्‌को पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, चन्दन, पुष्प, माला, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, फल, आरती, पुष्पाञ्जलि—सब इसी मन्त्रसे अर्पण करे। स्नान करानेके पश्चात् एक तुलसीपत्र शालिग्रामकी प्रतिमाके नीचे रख दे। उस तुलसीदलपर भगवान्‌को विराजमान करे। फिर एक तुलसीदल ऊपर चढ़ावे। तदनन्तर घिसे हुए मलयागिरि शुद्ध सफेद चन्दनकी कम-से-कम एक तोला पिष्ठी अवश्य चढ़ावे। चन्दन घिसते समय उसमें दो रत्ती शुद्ध केसर और दो रत्ती भीमसेनी कपूर अवश्य मिलाया जाय। उतना चन्दन सिंहासनपर न चढ़ सके तो भगवान् शालिग्रामकी प्रतिमाको सोने, चाँदी या पीतलकी, प्रतिमासे कुछ बड़ी, एक कटोरीमें विराजित कर दे। कैसे भी हो, कम-से-कम एक तोला चन्दन-पङ्क अवश्य चढ़ाना चाहिये। फिर आँवलेका मुरब्बा या सिंघाड़ेके आटेसे बने लड्डूका नैवेद्य भोग लगाया जाय। या दोनों ही चीजोंका भोग लगावे। भोग लगाते समय उपर्युक्त मन्त्र बोलना न भूले।

पूजा समाप्त होनेके बाद (भागवतके) 'नारायणकवच' या 'गोपालकवच'का पाठ करके उपर्युक्त मन्त्रकी १०८ दानेकी एक मालाका जप कर ले। फिर नैवेद्य लगाये हुए प्रसादको पाकर ऊपरसे भगवान्‌के स्नानका पञ्चामृत पी जाय। दूसरे दिन जब स्नान करावे, तब पहले दिनका चढ़ाया हुआ तुलसी-चन्दन सब स्नानके पञ्चामृतमें आ जाना चाहिये।

इस प्रकार भगवान् शालिग्रामकी उपासना करनेपर बीसों प्रकारके भयानकसे भयानक प्रमेह आदि तथा स्त्रियोंका प्रदर रोग सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। यह प्रयोग परीक्षित है।*

(४)

उपासनाके कुछ सिद्ध अनुभूत प्रयोग

गत ६४ वर्षका मेरा उपासना-सम्बन्धी अनुभव है, मैंने बहुत लाभ उठाया है। कुछ अनुष्ठान-प्रयोग नीचे लिख रहा हूँ। उचित समझें तो प्रकाशित करें, मेरा कोई आग्रह नहीं है।

(१) विपत्तिनाशपूर्वक सर्वसम्पत्ति-प्राप्तिके लिये—

मन्त्र—आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥
(जपसंख्या १६ लाख)

(२) बन्धनमुक्तिके लिये—

मन्त्र—हा नाथ! हा नरवरोत्तम! हा दयालो!
सीतापते! रुचिरकुण्डलशोभिवक्त्र!
भक्तार्तिदाहक मनोहररूपधारिन्
मां बन्धनात् सपदि मोचय मा विलम्बम्॥
(जपसंख्या ५ लाख)

(३) ज्ञानप्राप्तिके लिये—

मन्त्र—प्रणव (ॐ) (जप-संख्या प्रतिदिन १२ हजार एक वर्षतक)

यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परब्रह्म प्रकाशते॥

(४) शत्रुभय-नाशके लिये—

मन्त्र—ॐ ह्लीं बगलामुखि! सर्वदुष्टानां वाचं मुखं पदं स्तम्भय स्तम्भय जिह्वां कीलय बुद्धिं विनाशय ह्लीं ॐ स्वाहा। (जपसंख्या ५ लाख)

(५) सर्वसंकटविनाशपूर्वक सुखशान्तिप्राप्तिके लिये—

(क) पञ्चमुखी हनुमत्कवचम् (प्रतिदिन ११ पाठ)
(ख) देवीकवचम् [ब्रह्माकृत] (प्रतिदिन १ पाठ)
(ग) गायत्रीमन्त्रजप (प्रतिदिन ११ हजार)
(घ) संकटमोचन हनुमानाष्टकम् (प्रतिदिन १०८ पाठ)
(ङ) गायत्रीमन्त्रका विलोम जप (प्रतिदिन १०८ बार)

इन प्रयोगोंको निष्कामभावसे विश्वासपूर्वक करनेपर निश्चय ही सिद्धि प्राप्त होती है—अनुभूत है।

इनके अतिरिक्त श्रीरामचरितमानस (तुलसीदासजी-कृत) तथा दुर्गासप्तशतीके सम्पुटित विभिन्न प्रयोगोंसे प्रत्यक्ष सिद्धि मिलती है।

—ब्रह्मदत्त शास्त्री,
दधीचि-कुटीर
पो० बगड़ (झुंझनू) राजस्थान

* इस प्रयोगसे रोग नष्ट होना ही चाहिये। कदाचित् 'अनिवार्य प्रारब्ध'वश रोग समूल नाश न भी हो तो उसका वेग तो कम हो ही जायगा। और हर हालतमें भगवान्‌की नियमित पूजा-उपासना तो श्रेष्ठ फलवती होगी ही।

साबुनमें गायकी चर्बी

[सरकारकी स्वीकारोक्ति]

गत दिसम्बरके 'कल्याण'में 'साबुनमें चर्बी' शीर्षक एक सूचना छपी थी। इस सम्बन्धमें गत ता० २१ दिसम्बर १९६७ को संसद्-सदस्य सर्वश्रीअटलबिहारीजी वाजपेयी और श्रीओमप्रकाशजी त्यागीने प्रश्न किया था—

प्रश्न—पेट्रोलियम एवं केमिकलके मन्त्री महोदय क्या यह बतानेकी कृपा करेंगे कि—

(क) क्या यह सत्य है कि चर्बी, जिसमें सूअर और गायकी चर्बी मिश्रित है, प्रमुखतया साबुन बनानेके प्रयोगमें लायी जा रही है ?

(ख) क्या यह भी सत्य है कि अधिकतर भारतवासी इन प्रकारोंकी चर्बियोंको स्पर्श करना भी पाप समझते हैं ?

(ग) यदि यह ठीक है तो शासन यह विचार कर रहा है क्या कि साबुन बनानेवालोंको यह आदेश दिया जाय कि चर्बीसे बनी हुई साबुनके पैकेटोंपर स्पष्ट तौरपर लिखा जाय कि यह साबुन ऐसे जानवरोंकी चर्बीसे बना है, जिससे कि इसका उपयोग करनेवाले अपने धार्मिक भावोंकी रक्षा कर सकें और—

(घ) यदि शासन ऐसा विचार नहीं करता तो इसका कारण क्या है ?

उत्तर—इसके उत्तरमें—श्रीके० रघुरमैया, 'पेट्रोलियम एवं केमिकल तथा सोशल वेलवेफेयर' मन्त्रालयके राज्यमन्त्रीने कहा—

(क) अमेरिकासे आयी हुई न खानेयोग्य चर्बी इस देशमें साबुन बनानेके प्रयोगमें लायी जा रही है। हम समझते हैं कि इस चर्बीमें गोवंशकी चर्बी तो मिली हुई है, परंतु सूअरकी चर्बी हो सकती है मिली हुई हो, या न भी मिली हुई हो। साबुन बनानेमें जो चिकनाई काममें आती है, उसमें ११ प्रतिशत ऐसी चर्बी होती है।

(ख. ग. और ध) सर्वसाधारणको ज्ञात है कि देशमें जो चलनेवाले मार्केकी साबुन बनती और बिकती है, प्रायः उन सभीमें चर्बीका उपयोग होता है। अतएव इसका और विज्ञापन आवश्यक नहीं समझा जा रहा है। उपयोगकर्ताओंकी ओरसे इस प्रकारके साबुनके विरोधसम्बन्धी कोई शिकायत नहीं आयी है।

(अंगरेजी साप्ताहिक 'कामर्स' दिनांक २३। १। १९६८ पृष्ठ ८८ से अनुवादित)।

इस प्रश्नोत्तरमें भारत सरकारके एक जिम्मेदार मन्त्रीके शब्दोंसे यह सिद्ध हो गया कि साबुनमें 'गायकी चर्बी' मिलायी जाती है। हिंदुओंकी धार्मिक भावनाकी अवहेलना करनेमें सरकार निर्भय है, पर मुसल्मानोंका कुछ भय है। शायद इसीलिये सूअरकी चर्बीके बारेमें स्पष्ट न कहा हो। पर यह तो चर्बी भेजनेवालोंको अमेरिका लिखकर पूछा जा सकता है। और सूअरकी चर्बी भी हो तो पैकेटोंपर साफ लिखना चाहिये कि इसमें गाय तथा सूअरकी चर्बी लगी है। उपभोगकर्ताओंको पता ही नहीं था, अतः वे विरोध कैसे करते। सरकार जो कुछ कहे, करे—आजके हिंदूको सभी मान्य है! पर हिंदुओंके धर्मके साथ ऐसा व्यवहार करना एक बड़ा नैतिक अपराध तो है ही!

हमसे बहुत लोगोंने पूछा है बिना चर्बीकी साबुन कहाँ मिलती है। हमारे पास दो-एक पत्र आये भी हैं, जिन्होंने चर्बी बिना साबुन बनानेकी बात लिखी है। और भी पता लगाया जा रहा है। निश्चित पते मिलनेपर लिखा जा सकता है। जो बिना चर्बीकी साबुन बनाते हैं, वे सूचना भेजनेकी कृपा करें।

रजि० सं० एल्० १७५

देशवासियोंसे प्रार्थना

देशको उपद्रवोंसे बचानेके लिये भगवदाराधन तथा देवाराधन करें

इस समय सारे विश्वगगनमें विपत्ति और विनाशके अन्धकारमय बादल मँडरा रहे हैं। सर्वत्र अशान्ति है और घोर विनाशका भीषण उद्योगपर्व चल रहा है। भारतवर्षकी भी यही स्थिति है। सभी ओर किसी-न-किसी हेतुसे कलह, द्वेष, हिंसा, विध्वंस चल रहे हैं। डकैती, खून, दंगा, आगजनी, लूटपाट, मारकाट, एक दूसरेको गिरानेके तथा क्षुद्रस्वार्थ साधनके लिये हिंसा-प्रतिहिंसामय घोर कार्य आदि किये जा रहे हैं। देशके छिपे देशद्रोही लोग शत्रुता रखनेवाले बाहरी देशोंसे मिलकर देशको हानि पहुँचा रहे हैं और विशेषरूपसे पहुँचाना चाहते हैं। साथ ही पड़ोसी देश भारतपर आक्रमण करनेके लिये जोरोंसे तैयारियाँ कर रहे हैं। इन सब उपद्रवोंसे रक्षा पानेके लिये सरकारको तथा सभी देशवासियोंको जो कुछ 'भौतिक उपाय' करने उचित हों, वे सब तो सावधानी तथा लगनके साथ केवल लोक-कल्याणकी शुद्ध भावनासे करने ही चाहिये। साथ ही विश्वकल्याण तथा भारतके सब प्रकारकी विपत्तियोंसे मुक्त होकर सब प्रकारके मङ्गल-लाभके लिये अपनी-अपनी रुचि, विश्वास तथा भावनाके अनुसार 'आध्यात्मिक उपाय'—भगवदाराधन तथा देवाराधन भी अवश्य-अवश्य करने चाहिये। भगवदाराधनसे तथा देवाराधनसे अन्तःकरणकी शुद्धिके साथ ही सब प्रकारका कल्याण होता है और शुद्धान्तःकरण होनेसे नयी पापबुद्धि तथा अशुभ कार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती।

अतएव सभी देशवासियोंसे हमारी विनीत प्रार्थना है कि वे अपने-अपने अधिकार तथा विश्वासके अनुसार सामूहिक तथा व्यक्तिगतरूपसे भगवदाराधन एवं देवाराधन शीघ्र करने-करवाने आरम्भ कर दें। अनुष्ठान आदि संकल्प करके श्रद्धा-विधिपूर्वक करने चाहिये। नीचे कुछ ऐसे आराधनोंके सुझाव दिये जा रहे हैं—

१—अपने-अपने धर्मके अनुसार ईश्वरकी विश्वासपूर्वक सामूहिक और व्यक्तिगत प्रार्थना और आराधना।

२—वेदोंका संहितापाठ, रुद्रीपाठ, पुरुषसूक्त, श्रीसूक्त, देव्यथर्वशीर्ष, गणेशाथर्वशीर्षके पाठ।

३—विष्णुयज्ञ, रुद्रयज्ञ, गायत्रीपुरश्चरण, श्रीमद्भागवत-सप्ताह, नारायणकवच, गजेन्द्रस्तुतिके पाठ।

४—दुर्गासप्तशतीके पाठ, शतचण्डी-सहस्रचण्डी आदिके सविधि अनुष्ठान।

५—श्रीवाल्मीकि-रामायण या वाल्मीकि सुन्दरकाण्डका पाठ नीचे लिखे दो सम्पुटोंमेंसे किसी एकके साथ—

(१) आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्। लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥

(२) रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम। भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते॥

६—भगवान् शंकरकी उपासना, रुद्राभिषेक, 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्रका जप, महामृत्युञ्जयमन्त्रका जप।

७—श्रीरामचरितमानसका मासिक, नवाह्न या अखण्ड पाठ। नीचे लिखी अर्धालियोंके सम्पुटसहित या यों ही—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज काहू नहिं ब्यापा॥ अथवा

मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवहु सो दसरथ अजिर बिहारी॥

८—श्रीविष्णुसहस्रनाम गोपालसहस्रनामके पाठ, श्रीभगवन्नाम-संकीर्तन-जप।

९—गौओंकी सेवा, गौओंके लिये घास-चारे-भूसेकी व्यवस्था करना।

आवश्यक सूचना

इधर कुछ समयसे भाई हनुमानप्रसाद पोद्दारका स्वास्थ्य तो शिथिल चलता ही है, उनके मनकी भी कुछ ऐसी परिस्थिति हो गयी है कि वे अधिक समय एकान्तमें रहते हैं, बातचीत बहुत ही कम कर पाते, लोगोंसे मिलने-जुलनेमें कठिनता बोध करते और पत्रोंका उत्तर भी नहीं लिख-लिखा पाते हैं। ऐसी अवस्थामें सबसे यह विनीत निवेदन है कि उनसे मिलने-जुलनेके लिये आनेका प्रयास अत्यन्त आवश्यक हुए बिना न करें, सो भी पहले पत्र लिखकर। पत्र भी बहुत आवश्यक होनेपर ही लिखें तथा उत्तर देरसे पहुँचे या न पहुँचे तो उनकी विवश परिस्थितिपर ध्यान देकर क्षमा करें।